# विकास पर संवाद

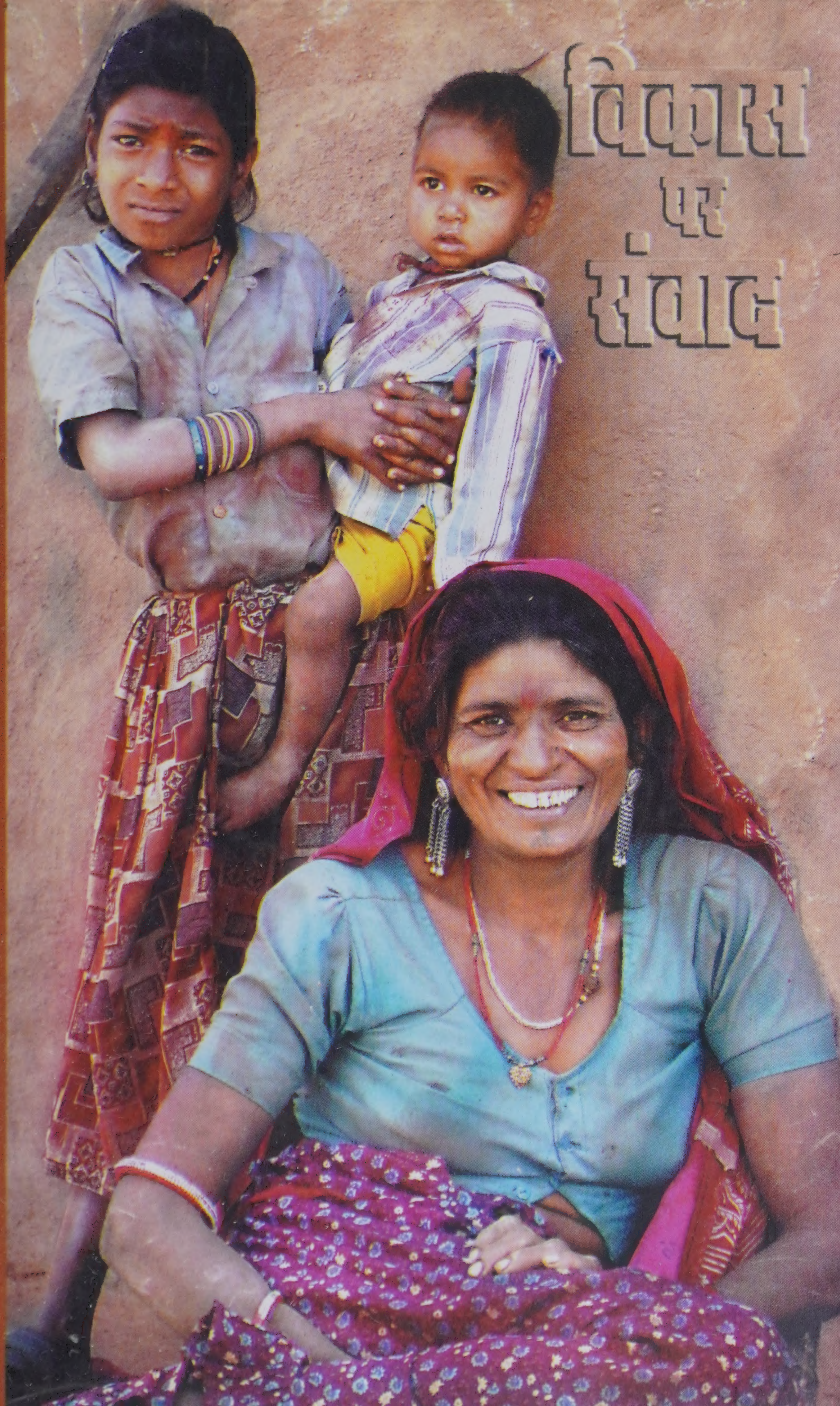

11369
11369
CPHE.

SOCHARA
Community Health
Library and Information Centre (CLIC)
Centre for Public Health and Equity
No. 27, 1st Floor, 6th Cross, 1st Main,
1st Block, Koramangala, Bengaluru - 34
Tel : 080 - 41280009
email : clic@sochara.org / cphe@sochara.org
www.sochara.org

COMMUNITY HEALTH CELL
LIBRARY
AND
INFORMATION
CENTRE
BANGALORE 34

# विकास पर संवाद

विकास संवाद मीडिया फैलोशिप के प्रयासों का संकलन

**विकास संवाद**

ई–7/226, प्रथम तल, धनवंतरी कॉम्पलेक्स के सामने,

अरेरा कॉलोनी, शाहपुरा, भोपाल (मध्यप्रदेश)

फोन : +91 755 4252789, ई–मेल : vikassamvad@gmail.com

www.mediaforrights.org

©विकास संवाद

प्रकाशक

**विकास संवाद**

ई–7/226, प्रथम तल, धनवंतरी कॉम्पलेक्स के सामने
अरेरा कॉलोनी, शाहपुरा, भोपाल, मध्यप्रदेश

फोन - 0755- 4252789
E-Mail : vikassamvad@gmail.com
Website.: www.mediaforrights.org

प्रथम संस्करण : 2008 (1000 प्रतियाँ)

संपादन : राजु कुमार

आवरण : अमित सक्सेना

मुद्रक : एम.एस.पी. ऑफसेट, भोपाल

सहयोग राशि : 150 रुपये

पुस्तक के किसी भी लेख या अंश का उपयोग लेखक के नाम एवं स्रोत के जिक्र के साथ किया जा सकता है।

पुस्तक को विकसित करने में द हंगर प्रोजेक्ट का सहयोग है।

Vikas par Samvad: A compilation of media fellowship articles and write ups.

DEV-100

# अपनी बात

अब से कुछ वर्ष पूर्व हमने इस मान्यता के साथ काम करना शुरू किया था कि अगर मीडिया वास्तव में सामाजिक बदलाव में एक प्रभावशाली तत्व है, तो उस तत्व के साथ सघन, व्यावहारिक और सांगठनिक सम्बंध बनाये बिना संवाद भी स्थापित नहीं किया जा सकता है। यह एक अधूरी सोच थी, क्योंकि यही वह दौर था जब हमने अपने मीडिया में काम करने वाले साथियों से बार–बार 'टी जी' का जिक्र सुना। शुरू में यह जिक्र कभी–कभार आता था; अब आमतौर पर आ जाता है। इसका मतलब होता है टारगेट ग्रुप यानी लक्षित समूह। थोड़े समय तक यह सवाल अटका रहा था कि मीडिया के संदर्भ में इसका क्या मतलब है। बहरहाल इस सवाल का जवाब किसी बाहरी व्यक्ति से नहीं, बल्कि भीतर की स्वीकारोक्ति से मिला कि अब जबकि एक व्यक्ति ही बाजार में खड़ा है तो क्या अब मीडिया को भी बाजार से अलग करके देखा जा सकता है? जवाब था – नहीं। तो जब मीडिया एक उत्पाद है तो फिर इसका कोई 'खास' उपभोक्ता भी तो होगा, बस यही जवाब था।

पर अब भी एक सवाल अटका हुआ है कि आखिर यह टारगेट ग्रुप तय कौन करता है और वे कौन सी ताकतें हैं जो मीडिया के प्रभाव का आकलन करती है। जो सच सामने आता है वह कुछ हद तक हास्यास्पद ही है। कुछ नये रंगरूट एक अल्पकालीन प्रशिक्षण के बाद घर–घर जाकर पूछते हैं कि उन्हें क्या पसंद आ रहा है और क्या ना–पसंद है। उल्लेखनीय है कि उन्हें प्रशिक्षण के दौरान ही यह समझाया जाता है कि लोग रंगीन तस्वीरें देखना चाहते हैं। इतना ही नहीं, लोग अब साढ़े तीन मिनट में अखबार पढ़ लेना चाहते हैं, आज उनके पास इतना ही वक्त है। यह विश्लेषण कभी नहीं बताता कि क्या उन अखबारों को साढ़े तीन मिनट से ज्यादा लगेंगे क्या? प्रशिक्षण में ही उन्हें बताया जाता है कि अब लोग विश्लेषण या विस्तार ली हुई खबरें नहीं पढ़ना चाहते हैं या पहले पन्ने पर अच्छी और सकारात्मक खबरें होना अच्छा माना जाता है। ये तमाम निष्कर्ष जान लेने के बाद अध्ययन शुरू होता है, तो स्वाभाविक है कि आने वाले परिणाम वही होते हैं जो हम चाहते हैं। और इसी दौर में मीडिया का प्रभाव खोता जाता है।

सामान्य तौर पर यह माना जा रहा है बल्कि प्रचारित किया जा रहा है कि गरीबी, भुखमरी या खेती–किसानी की खबरें अखबारों में नहीं पढ़ी जाती। पर हमारा मानना है कि इसी अवधारणा के कारण ही अखबार पाठकों के हाथों से फिसलते जा रहे हैं या फिर अल्पावधि में पढ़ कर किनारे कर दिए जा रहे हैं। कुछ ऐसे ही कारणों से वैकल्पिक मीडिया भी अब मुख्यधारा में स्वीकार्य होने लगा है।

समाज के वंचित तबकों को छोड़कर न तो राजनीति की जा सकती है और न ही सामाजिक दायित्वों के निर्वहन करने का दावा किया जा सकता है।

सामाजिक सरोकारों को मीडिया से दूर करने में कुछ रही सही कसर मीडिया के बाहर के समूह पूरी कर रहे हैं। पिछले एक साल में दो स्वैच्छिक संस्थाओं और एक स्कूल समूह ने मध्यप्रदेश में नई मीडिया व्यवस्था के बीज बोये। इन संस्थानों ने अपने मीडिया कार्यक्रम में पत्रकारों को नगद धनराशि प्रदान की। उनमें से एक ने कहा भी, कि जब उपहार दिये जाते हैं तो फिर नगद देने में क्या हर्ज है? बात सही है, पर यह सवाल या बहस मीडिया के क्षेत्र में क्यों शुरू नहीं हुई कि आखिर इस परम्परा पर मौन क्यों?

बहुत से पत्रकार इससे व्यथित हैं और इस परम्परा का प्रभाव मुद्दे के लिये सीमित होते स्थान के रूप में भी नजर आता है, क्योंकि गरीबी जिसका सवाल है वह लक्षित समूह का हिस्सा भी नहीं है और अब मोल–भाव ने उन्हें दोहरे रूप में वंचित कर दिया है। क्या मीडिया को उन्हीं की बात करना चाहिए जो मीडिया और अन्य समूहों के उपभोक्ता हैं?या कुपोषण के शिकार असामयिक मौत से जूझते बच्चे को भी मीडिया से अपेक्षा होना चाहिए। इस विषय पर ईमानदारी से चर्चा होना चाहिये क्योंकि इन्हीं सवालों से 'मीडिया' का अस्तित्व जुड़ा हुआ है।

इन्हीं सवालों से टकराते हुए वर्ष 2001 में हमने एक प्रयास शुरू किया था – स्ट्रिंगर्स के प्रशिक्षण का। अलग–अलग जिलों में तीन साल में 13 प्रशिक्षण कार्यक्रम आयोजित किये गये। इस दौरान हम 10 से 15 दिन साथ रहते थे और इसी समय यह स्पष्ट आभास मिलना शुरू हुआ कि वास्तव में स्ट्रिंगर्स के प्रशिक्षण से आगे की प्रक्रिया को अब तय करना जरूरी है, ताकि मुख्यधारा के पेशेवर पत्रकारों के साथ मुद्दों पर आधारित काम हो सके।

वर्ष 2003 में संपादक, फीचर संपादक, संवाददाता और विशेष संवाददाता स्तर के व्यक्तियों के साथ बातचीत करने के बाद ऐसे प्रयास का निर्णय हुआ, जिसमें इन मध्य अनुभवी पेशेवर पत्रकारों के साथ अध्ययनमूलक प्रक्रिया आगे बढ़ाई जा सके। सुझाव आया एक फैलोशिप कार्यक्रम शुरू करने का। तब हमने देश में चल रहे अन्य फैलोशिप कार्यक्रमों का विश्लेषण करके पाया कि मध्यप्रदेश तो उनमें से लगभग खत्म कर दिया गया है। साथ ही उनके संचालन की प्रक्रिया में भी मध्यप्रदेश के वरिष्ठ और सम्मानित व्यक्ति नजर ही नहीं आये।

इसके बाद एक निर्णय के साथ मध्यप्रेश में हिन्दी पत्रकारिता के पेशेवर पत्रकारों के लिये फैलोशिप कार्यक्रम वर्ष 2004 में अस्तित्व में आया। इसमें नीति

निर्धारण और निर्णायकों की भूमिका को राज्य के ही कुछ संपादकों ने निभाकर हमारे आधार को मजबूत बनाया। विकास संवाद एक बेहद पारदर्शी तरीके से न केवल प्रक्रियाओं को चलाता है, बल्कि इसके हर हिस्से तक किसी भी आगंतुक की सहज पहुँच है। फैलोशिप के संदर्भ में हमारी राजनीति बेहद स्पष्ट रूप से देखी जाना चाहिये। जिन मुद्दों को हम महत्वपूर्ण मानते हैं उन मुद्दों पर माहौल बनाने और उनका जनोन्मुख विश्लेषण करने में मीडिया साथ खड़ा हो, यह सबसे महत्वपूर्ण बात है। फैलोशिप के तहत मुद्दों की पत्रकारिता करते हुए पत्रकारों से बार–बार बात करते हुये हमने पाया कि पत्रकार अब भी भीतर से जिन्दा है और कुछ अवसरों की तलाश में रहते हैं कि कुछ विषयों पर जुटकर काम किया जाये।

विकास संवाद एक मिश्रित समूह है शिक्षक, पत्रकार, सामाजिक कार्यकर्ता और प्रशिक्षकों का। यह समूह मुद्दों की अधिकार आधारित वकालत (सामाजिक, राजनैतिक और न्यायिक) की प्रक्रिया को चलाने और आगे बढ़ाने के मकसद से अस्तित्व में आया। एक समूह के रूप में विकास संवाद वर्ष 2004 से सक्रिय है, किन्तु वैधानिक अस्तित्व वर्ष 2006 में प्राप्त किया। हम उन सभी मंच से जुड़ना और प्रभावित करना चाहते हैं, जिनसे समाज के सबसे वंचित और बहिष्कृत लोगों के जीवन के अधिकार जुड़े हुये हैं, इसलिए कि उन्हें बिना किसी धार्मिक, साम्प्रदायिक, जातीय, लिंग या क्षेत्रीय भेदभाव के समता, स्वतंत्रता और न्याय मिले ताकि वे गरिमापूर्ण जीवन जी सकें। हम केवल वृद्धि को विकास नहीं मानते हैं बल्कि जीवन और समाज में स्वीकार्य बदलाव के साथ समता और गरिमा का तत्व भी देखना चाहते हैं। लोकतांत्रिक मूल्यों में विश्वास करते हुये विकास संवाद मुख्यतः चार काम करता है – (एक) उन लोगों को एक साथ लाना जो व्यापक समाज में अपनी निजी भूमिका को परिभाषित भी करना चाहते हैं। इनमें हम मुख्यधारा के पत्रकारों के साथ जुड़ रहे हैं। (दो) उन मुद्दों और विषयों पर ठोस विश्लेषण करना जो समाज के साथ समाज के वंचित तबकों की जिन्दगी को प्रभावित करते हैं। (तीन) जो मुद्दे हम मानते हैं कि महत्वपूर्ण हैं उन्हें नीति से जुड़े हुये मंचों तक पहुँचाना। (चार) कुछ ऐसे प्रयास करते रहना जिनमें संवाद, चर्चा और बहसें कायम रहें।

विकास संवाद मुख्यतः मुख्यधारा के मीडिया के साथ मुद्दों पर आधारित सम्बंध बनाने की जद्दोजहद करता है और इस पहल में सक्रिय पत्रकार सबसे अहम् सहयोगी की भूमिका निभाते हैं। हमारे लिये उनका साथ ही, हमारे लिए एक सही दिशा में होने का संकेत देता है। इसके अलावा द हंगर प्रोजेक्ट, एक्शनएड इंडिया, यूनिसेफ, चाईल्ड राईट्स एण्ड यू, सर दोराबजी टाटा ट्रस्ट, संपर्क, नेशनल इंस्टीट्यूट ऑफ वीमेन चाइल्ड एण्ड यूथ डेव्हलपमेण्ट समय–समय पर हमारे साथ

खड़े होते रहे हैं। क्षेत्र में विभिन्न मुद्दों को समझने का मामला हो या फिर उसके नीतिगत पहलुओं को जानना हो, इसके लिये लगातार संदीप नाईक, अनिल गुलाटी, मालिनी सुब्रह्मण्यम् आदि का सहयोग मिलता रहा है। हम अपने काम को एक प्रक्रिया मानते हैं और इस प्रक्रिया को आगे बढ़ाने में जुटे हुये हैं आत्म विश्लेषण एवं मूल्यों के साथ।

पिछले तीन वर्षों से मुख्यधारा के जिन पत्रकारों ने फैलोशिप के तहत मुद्दा आधारित पत्रकारिता की है, उन पत्रकारों को कहीं न कहीं उन सवालों से टकराना पड़ा है, जिनकी वजह से सामाजिक विकास के मुद्दों के लिए मीडिया में जगह नहीं मिल पाता। मुद्दे से जुड़े विषयों के प्रकाशन के लिए पत्रकारों को पृष्ठ पर जगह पाने के लिए एक लड़ाई और एक जदोजहद्द से गुजरना पड़ा है। "एक ही विषय पर बार–बार समाचार या लेख" जैसे चुभते सवालों से गुजरना पड़ा है। पर उन्होंने हार नहीं मानी। जो विषय टी.जी. के बाहर के माने जाते हैं, उनके प्रयासों से अखबारों में प्रकाशित भी हुए और चर्चित भी हुए।

उन पत्रकारों के जदोजहद्द के परिणामों को देखने और जानने का जरिया है यह प्रयास।

• विकास संवाद

# विषय सूची


## 1. खाद्य सुरक्षा और गरीबी 1–31

**रूमनी घोष**

- कंगाल गाँव कागज पर हुआ मालामाल 1
- तीन साल बाद मिली तीन दिन की मजदूरी 3
- 45 दिनों में भूख से 14 मौतें 5

**धनंजय प्रताप सिंह**

- साहूकारों की तिजोरी में गिरवी 'बैगा' 8
- और दुष्कर हुआ आदिवासियों का जीवन 10
- ...तो हर 'बैगा' परिवार को मिलते 73 लाख रुपये 12

**सचिन कुमार जैन**

- तेरह सूचकों के फेर में फँसी गरीबों की पहचान 14
- क्यों है बीटी बैंगन एक खतरा? 26

**राजु कुमार**

- दो पसेरी गेहूँ के कर्ज में 16 बीघा जमीन गँवाई 30

## 2. महिला सशक्तिकरण और स्व–शासन 32–51

**नीति दीवान**

- हिंसा से त्रस्त हैं गोकुल ग्राम की महिलाएँ 32
- एक पहल महिलाओं की 35
- पंचायती राज और परिवार नियोजन 37

**वीणा सबलोक पाठक**

- महिला सरपंचों पर हो रहें हैं अत्याचार 40
- अधिकार विहीन दलित समाज 42
- महिला सशक्तिकरण का मजाक 44

**लोकेन्द्र सिंह कोट**

- आदर्श उतर रहे हैं जमीं पर 46
- फून्दीबाई सरपंच कहती है आधा आसमां हमारा 48
- पंचायतों में महिलाओं की अवमानना 50

## 3. स्व–शासन 52–62

**राजु कुमार**

- काँटे साफ करती फूलबाई 52
- राज पंचायती राज का 55

**जयंत सिंह तोमर**

- पाँचवी अनुसूची भी नहीं बदल पा रही आदिवासियों की जिंदगी 58
- सरकारी दखलंदाजी में भला कैसे पनपे ग्राम स्वराज 61

## 4. सामाजिक सद्भाव 63–74

**भारत शर्मा**

- अभी भी जारी है मालगुजारी परम्परा 63

- अपनी संस्कृति को लेकर चिंतित हैं आदिवासी 65
- नीलामी से हथियाई जाती है जमीन 67

**जाकिर अली**

- सुनियोजित हैं यह हमले 69
- संघ को क्यों नहीं दिखती गरीबी–बेरोजगारी 71
- दावों से उलट, दलित उत्थान की हकीकत 73

**5. सामाजिक बहिष्कार एवं भेदभाव 75–89**

**दयाशंकर मिश्र**

- क्यों हार गई सुमित्रा! 75
- बेटियों की जिस्मफरोशी से जिंदा समाज 79
- रीना के मास्टरजी 84

**6. महिला एवं बाल स्वास्थ्य 90–107**

**रानी शर्मा**

- नर्सिंग होम : नियम न कायदा, बस फायदा ही फायदा 90
- कैसे मिले दवा, मरीज हुए दोगुने बजट हुआ आधा 92
- औरत के जिंदा रहने के अधिकार का सवाल 93

**राकेश कुमार मालवीय**

- मप्र में जहाँ इलाज और न्याय के रोंगटे खड़े कर देने वाले उपाय हैं जारी 95
- सहरिया परिवार में जन्म का मतलब कुपोषण से मौत 97
- विस्थापन से बदहाल हुआ बचपन 99

**सचिन कुमार जैन**

- सवाल यह कि बच्चे किस विभाग की जिम्मेदारी हैं? 104

**7. शिक्षा 108–114**

**अमिताभ पाण्डेय**

- शिक्षा के सर्वव्यापीकरण का सपना 108
- आदिवासी इलाकों में शिक्षा के इंतजाम 111
- असंगठित श्रमिकों के बच्चे अशिक्षा की राह पर 113

**8. कुछ मेरी सुनो 115–130**

- समाज के सीने में हलचल – **रूमनी घोष** 115
- बदलाव की बयार – **नीति दीवान** 118
- सामंतवाद के कोढ़ से उपजी अशांति – **भारत शर्मा** 120
- स्वास्थ्य सेवाओं से बहिष्कृत महिलायें – **रानी शर्मा** 123
- अधिकारों के लिए उठे कदम – **राकेश कुमार मालवीय** 125
- नासूर का क्या हो इलाज – **दयाशंकर मिश्र** 127
- महिला नेतृत्व की पहली सीढ़ी – **लोकेन्द्र सिंह कोट** 129

**9. पत्रकारों के बारे में 131–134**

**10. चयन समिति 135–136**

# 1 खाद्य सुरक्षा और गरीबी

आँकड़ों की बाजीगरी –
कुदरत ने नहीं, बीपीएल सर्वे में सरकारी अंकों ने बदल दी किस्मत

## कंगाल गाँव कागज पर हुआ मालामाल*

बैतूल से लगभग 95 किमी दूर पूर्वी निमाड़ की सीमा से लगा गाँव....हर्रा। यहाँ तक पहुँचने के लिए सड़कें नहीं हैं। जंगलों के बीच पहाड़ों पर बसे कोरकू आदिवासियों के इस गाँव में एक परिवार को छोड़कर सारा गाँव रातो--रात अमीर बन गया। यह कुदरत का करिश्मा नहीं बल्कि 'सरकारी अंकों' का जादू है। सम्भवतः प्रदेश में यह यह पहला आदिवासी गाँव है जहाँ बीपीएल सर्वे (गरीबी रेखा के नीचे) की सूची में सिर्फ एक परिवार का नाम है जबकि पिछले बीपीएल सूची मे यहाँ के 40 परिवारों का नाम था।

जिले के सबसे पिछड़े भीमपुर ब्लॉक के गाँवों में लोगों को दो वक्त की रोटी नसीब नहीं है। बारिश के चार महीने भुखमरी का शिकार होना पड़ता है और शेष आठ महीने पलायन से गुजारा होता है। हाल ही मे यहाँ कुपोषण से दो बच्चों की मौत हो गई। प्रशासन ने भी पहुँचहीन इलाका घोषित कर दिया है, लेकिन हाल ही में हुए बीपीएल सर्वे के कागजों पर कुछ और ही तस्वीर खींच दी गई है।

हर्रा गाँव में 92 परिवार हैं इसमे से सिर्फ मुन्ना ठीठू ही किस्मत वाला है जो गरीबी रेखा के नीचे है। सर्वे वालों ने उसे ठीक 15 अंक दिए हैं यदि एक अंक भी बढ़ जाता तो वह भी इस सूची से बाहर हो जाता (सरकार द्वरा बीपीएल सर्वे के लिए निर्धारित 'कट ऑफ लाइन' में बैतूल जिले को 15 अंक तय किया गया है) जबकि भाई बुधराम ठीठू का नाम ही नहीं आया। यही नहीं आशाराम, रामदयाल, रामा भूरिया, हरीराम श्यामलाल, शिवराम, श्यामलाल, चितरू, श्यामलाल, जैसे भूमिहिन किसान जिनके पास जीवनयापन का कोई आसरा नहीं है वे भी इस सूची से बाहर कर दिए गए हैं। बेवा रामकू गम्मू को तो 27 अंक थमा दिये गए हैं। पिछली सूची में

---

* दैनिक भास्कर में प्रकाशित

गरीबी रेखा के नीचे आने वाली सोमती परसराम के चेहरे पर चिंता की लकीर साफ दिखाई देती है। "हमारे पास एक जोड़ ही कपड़े हैं और खाने को भी नहीं हैं। फिर भी हमारा नाम नहीं है अब क्या करेंगे?" सूची में विसंगति साफ दिखाई देती है कि गाँव में बिजली नहीं है इसलिए हीटर, बल्व, प्रेस, कूलर, जैसी चीजों की संभावना भी नहीं है। इसके बावजूद अधिकाँश परिवारों को 22/29 अंक तक दिए गए हैं। इसी गाँव के स्वास्थ्य समिति के अध्यक्ष जुगराम का कहना है, "वैसे तो पूरा गाँव ही गरीबी रेखा के नीचे आना चाहिए, फिर भी तीन चार परिवारों को छोड़ा भी, तो भी बाकी सभी परिवार अत्यंत गरीब हैं।

इस क्षेत्र में काम कर रही स्वयंसेवी संस्था द्वारा उन्हीं 13 मकानों पर सर्वे करवाया, तो भी लगभग 53 परिवार गरीबी रेखा से नीचे आ रहे हैं। इनकी मदद से गाँववालों ने कलेक्टर सहित भोपाल मुख्यालय तक गुहार लगाई है लेकिन अभी तक न तो इस गाँव में दोबारा सर्वे हुआ और न ही ऐसी कोई सूचना है।

**(रूमनी घोष)**

●●●

# तीन साल बाद मिली तीन दिन की मजदूरी*

सेंधवा से मात्र 7 किमी दूर सेगवी गाँव की दुलकी बाई अपनी किस्मत पर नाज करें या सरकारी तंत्र के हाथों अपने शोषण का गम मनाए, यह नहीं पता। उसे तो सिर्फ इतना पता है कि सूखा राहत में किए गए तीन दिन के काम की मजदूरी तीन साल बाद मंगलवार को मिली। इसी गाँव की 40 वर्षीय मट्ठा बाई, आईशा पिता सुरसी, मियालीबाई पिता नान्ला को दो–तीन दिन की मजदूरी मिल गई, लेकिन बासवी, चाकखेड़ा, गागरखेड़ा और पीपलधार, पलसूद, सावरदा, लंगड़ीमोहड़ी, झिरी जामली, पलासपानी, पिपरानी, गेंदी, मोरतलल्लाई और डोंगलापानी गाँवों के लोगों की लड़ाई अभी जारी है। इन गाँवों में मस्टर रोल में फर्जी नाम, खाद्यान्न वितरण और राहत कार्य में मशीन के उपयोग की अनियमितताएँ सिद्ध हुई।

वर्ष 2002 में सूखाग्रस्त घोषित गाँव में हुए राहत कार्यों के दौरान हुई भारी गड़बड़ियों के खिलाफ 14 गाँवों ने आदिवासी मुक्ति संगठन के सहयोग से तीन साल पहले आवाज उठाई थी लेकिन जिला प्रशासन और प्रदेश सरकार ने उनकी कोई सुध नहीं ली। सरकार ने तो

## काम काज की पोल खुली

### मस्टर रोल में गड़बड़ी

बासवी का ईश्वर जेल में था, लेकिन उस अवधि में उसका नाम सूखा राहत कार्य के दौरान मस्टर रोल में दर्ज है और उसके नाम से भुगतान राशि और गेहूँ निकाला गया।

गागरखेरा निवासी झगलिया की मौत चार साल पहले ही हो चुकी थी लेकिन मस्टर रोल पर नाम है।

### खाद्यान्न वितरण में गड़बड़ी

गगरखेड़ा और चाकखेड़ा के मस्टर रोल में गेहूँ वितरण दर्ज है लेकिन गाँव में बँटा ही नहीं।

बासवी में 34 ट्रक गेहूँ आया लेकिन चार ट्रक ही बाँटा गया।

### निर्माण कार्य

पीपधार में बनाए गए 25 लाख की लागत वाले तालाब में घटिया निर्माण की वजह से दरार पड़ गई। इसे गाँव से इतना दूर बनाया है कि ग्रामीण व पशुओं के काम का नहीं।

ट्रेक्टर और जेसीबी मशीन के प्रयोग से मजदूरों को पर्याप्त रोजगार नहीं मिल पाया।

(जाँच दल के सामने गाँववालें द्वारा दिए बयान के आधार पर)

---

* दैनिक भास्कर में प्रकाशित

जाँच बंद कर दी थी लेकिन 15 जून को सुप्रीम कोर्ट की ओर से गाँव वालों को राहत मिली। सुप्रीम कोर्ट के निर्देश पर गठित पाँच सदस्यीय जाँच दल ने पहले दिन बासवी, सेगवी, पीपलधार, चाकखेड़ा, गागरखेड़ा पहुँचकर फिर से फाइलें खोली तो चौंकाने वाली गड़बड़ियाँ उभरकर आई। इस दल में ग्रामीण विकास विभाग के संयुक्त सचिव योगेन्द्र शर्मा, उप राहत आयुक्त मृत्युंजय वसानिया, भोजन के अधिकार संगठन के राष्ट्रीय कार्यकारिणी की सदस्य सीराज बलसारा प्रभु, आदिवासी मुक्ति संगठन के विजय, ग्रामीण विकास अभियांत्रिकी सेवाओं की प्रियदर्शी खेड़ा शामिल थे। 'भास्कर' की संवाददाता ने भी जाँच दल के साथ इन गाँवों का दौरा किया। सरकारी रिकॉर्ड के मुताबिक सूखा राहत कार्य के बासवी में 34 ट्रक अनाज आया लेकिन सरपंच जगदीश पिता नूरा का कहना है कि उसने चार ट्रक पर ही हस्ताक्षर किये।

बालदर पिता गुच्छा की शिकायत है कि मस्टर रोल में दर्ज उपस्थिति के अनुसार उसे 2224 रुपये और 384 किलो गेहूँ मिलना चाहिए लेकिन सिर्फ 1300 रुपये और एक क्विंटल गेहूँ ही मिला। सुप्रीम कोर्ट के आदेश के अनुसार इस दौरान मशीन का उपयोग (विशेष परिस्थितियों को छोड़कर) नहीं किया जाना चाहिए लेकिन गरदिया पिता नानरिया गवाह है कि तालाब बनने के दौरान उसने दस दिन तक मशीन की चौकीदारी की। सेंधवा से लगभग 30 किमी दूर गागरखेड़ा और चाकखेड़ा में सुप्रीम कोर्ट से सभी नियमों का उल्लंघन पाया गया। गागरखेड़ा निवासी लिमज्यासिंह और भाई दाससिंह की शिकायत थी कि निस्तारी तालाब के निर्माण के दौरान 6–7 ट्रैक्टर और उसमें मजदूर भरकर लाए गए। इस वजह से गाँववालों को मजदूरी ही नहीं मिल पाई। सात–आठ दिन में ही काम खत्म हो गया। यह भी खुलासा हुआ कि अधिकाँश जगह पर पेमेन्ट विभागीय अधिकारियों के बजाय ठेकेदार द्वारा की गई। चाकखेड़ा के मस्टर रोल में गड़बड़ियों का यह आलम था कि चम्पालाल के आठ वर्षीय लड़के (मस्टर रोल क्रमांक–सदस्यीय जाँच दल की संयुक्त रिपोर्ट सुर्प्रीम कोर्ट द्वारा नियुक्त कमीशनर को भेजे जायेंगे। उनके द्वारा दिये गए फैसले के आधार पर ही दोषी अधिकारियों पर कार्रवाई होगी।

**(रूमनी घोष)**

•••

# 45 दिनों में भूख से 14 मौतें*

झारखंड में भूख से बीते 45 दिनों में 14 मौतें होने की बात सामने आयी है। हालाँकि मुख्यमंत्री अर्जुन मुंडा और जिला प्रशासन का दावा है कि इनमें से एक भी मौत भूख से नहीं हुई। सच्चाई तलाशने के लिए इस संवाददाता ने जब पलामू और गढ़वा जिले के उन गाँवों का दौरा किया, जहाँ अगस्त–सितम्बर महीने में कुल 11 मौतें हुईं, तो सरकारी दावे गलत नजर ही आ रहे हैं।

लेस्लिगंज ब्लॉक से साढ़े तीन किमी दूर बने गोपालगंज गाँव में 5 सितम्बर को गोपाल भुइयां की 14 साल की लड़की नीलमकुमारी की मौत हो गई। सुभाष और उसकी पत्नी पूनमदेवी के पाँच बच्चे थे जिनमें नीलम सबसे बड़ी थी। आय के स्रोत के नाम पर चार कठ्ठा (एक एकड़ में 27 कट्ठा) बारी की जमीन (जिसमें सिर्फ मक्का ही पैदा होती है)। इस जमीन से बमुश्किल 20 दिन का अनाज निकलता है। पहले कटाई, रोपाई मिलाकर लगभग 30 दिनों का काम मिल जाता था, लेकिन इस बार न जमीन ने फसल उगाई और न रोपाई ही हो पाई। दो साल के सूखे ने आय का यह जरिया भी छीन लिया।

गौरतलब है कि झारखंड सरकार ने इस साल (वर्ष 2004) भी इस इलाके में सूखा घोषित कर दिया है। आसपास जंगल नहीं होने से लकड़ी या वनोपज भी जीवनयापन का साधन नहीं है। गरीबी रेखा से नीचे जीवनयापन करने वालों के लिए अंत्योदय योजना तो है मगर यह परिवार के लिए पर्याप्त नहीं होती। भुखमरी को चिन्हित करने के लिए तय मापदंडों के अनुसार जीने के लिए प्रत्येक वयस्क को 300 ग्राम और बच्चों को 150 ग्राम भोजन चाहिए। इस आधार पर भी सुभाष भुइयां के परिवार की जरूरत कम से कम 45 किलो अनाज की है, जबकि मिलता है सिर्फ 30–35 किलो। परिवार पर दो हजार रुपये कर्ज है इसलिए और उधार भी नहीं मिला। गाँव में एक आँगनबाड़ी है, लेकिन नीलम का नाम किशोरी बालिका योजना में दर्ज नहीं था जबकि वह इसकी पात्र थी। गोपालगंज गाँव में सर्व शिक्षा अभियान के तहत स्कूल भी चलता है, लेकिन गाँव के लगभग 40 भुइयां परिवारों के बच्चे नहीं जाते, इसलिए मध्यान्ह भोजन भी नहीं मिलता। पूनमदेवी कहती हैं, ''नीलम आधा पेट खाती रही और दवा भी नहीं मिल सकी। इतने सालों की भूख उसे खा गई।''

* दैनिक भास्कर में प्रकाशित

**मनानू ब्लॉक का भालोगाड़ी :**

मनानू के लिए यहाँ कहावत प्रचलित है कि यह बिहार का कालापानी है। बिजली–पानी तो दूर यहाँ पहुँचने के लिए सड़कों का भी नहीं होना, काफी हद तक इस कहावत को सही साबित करता है। जिला मुख्यालय से 56 किमी दूर इस गाँव के बटम साहू के मरते ही उसका पूरा परिवार सड़क पर आ गया। पत्नी पहले ही मर गई थी। पाँच बच्चों की परवरिश का जिम्मा और गरीबी से ग्रसित बटम साहू के पास पिछले 7–8 महीने से काम नहीं था। गाँव वालों से माँग कर बच्चे को तो खिलाया मगर खुद के लिए अन्न न जुटा सका। परिवार के पास मिट्टी से बने छोटे मकान के अलावा कुछ नहीं है। साहू की मौत का मामला गरमाते ही अधिकारियों ने ताबड़तोड़ 10 हजार रुपये और कुछ किलो चावल दिए। बेटी अनीता कहती है कि अभी तो भूख मिट गई मगर आगे कैसे चलेगा। भाई सब छोटे हैं।

तीसरा गाँव था उलगाड़ा फरावगाँव। इस गाँव में सितम्बर में सुधी भुइयां की पत्नी तेतरीदेवी काल के गाल में समा गई। 11 साल पहले गाँव के ही अजय पांडे से 1100 रुपये का कर्ज लिया था। इसमें से अभी तक पाँच हजार चुका दिए, मगर चार हजार रुपये का कर्ज बाकी है। रोज़गार की खोज में सुधी लुधियाना गया। वहाँ कोई काम नही मिला इसलिए पैसा नहीं भेज पाया। परिवार के पास न अंत्योदय कार्ड था और न ही किसी सरकारी योजना का लाभ मिला।

**झारखंड में अगस्त–सितम्बर 2004 के दौरान भूख से हुई मौतें**

| नाम | मृत्यु तिथि | गाँव (जिला) | जाति |
|---|---|---|---|
| लेप्सी कोरबा | 10 अगस्त | शरत पहाड़ी (गढ़वा) | अजा |
| तुलसी भुइयां | 26 अगस्त | पतरिया (गढ़वा) | अजा |
| ननदाह | 27 अगस्त | चुराहा (पलामू) | अजा |
| बटम साहू | 29 अगस्त | मनानू | ओबीसी |
| शकुंति देवी | 1 सितम्बर | बरडिहा | अजा |
| पदारथ गिरी | 2 सितम्बर | गोला (हारीबाग) | सामान्य |
| पांडे भुइयां | 2 सितम्बर | मानपुर | अजा |
| सदमी उरांव | 5 सितम्बर | मंजालीजारिता (पलामू) | अजा |
| नीलमकुमारी | 5 सितम्बर | गोपालगंज (पलामू) | अजा |
| समू मुहाली | 5 सितम्बर | अंगारा (रांची) | अजा |
| नथनी भुइयां | 6 सितम्बर | सलैया (पलामूम) | अजा |
| मारूति देवी | 12 सितम्बर | सतार (देवधर) | अजा |
| तैतरी देवी | 14 सितम्बर | उलगाडा (पलामू) | अजा |
| बिफन भुइयां | 15 सितम्बर | मनानू (पलामू) | अजा |

स्रोत : ग्रामीणों व ग्राम स्वराज अभियान द्वारा दी गई जानकारी के आधार पर

यही कहानी शरत पहाड़ी, पतरिया, चुराहा, बरडिहा, मानपुर की है। सुप्रीम कोर्ट के निर्देशानुसार शरहत पहाड़ी में रहने वाले कोरबा आदिवासी के हर परिवार को अंत्योदय कार्ड मिलना चाहिए मगर अभी तक किसी को भी यह नहीं मिला है। जन चेतना संस्था द्वारा जब 310 की आबादी वाले इन लोगों का बॉडी मास इंडेक्स लिया गया तो 39 प्रतिशत लोग ऐसे पाए गए जिन्हें पर्याप्त से बहुत कम भोजन मिल रहा है। यही स्थिति रही तो और भी लोग भुखमरी का शिकार हो सकते हैं। इसी गाँव की लेप्सी कोरबा की मौत भी भूख के कारण ही हुई।

सरकार ने जून में सूखा घोषित कर दिया मगर अभी तक यहाँ राहत कार्य शुरू नहीं हुआ है। यही नहीं वर्ष 2003 में राहत कोष आवंटित राशि का बड़ा हिस्सा अभी भी अनुपयोगी पड़ा है। सरकारी आँकड़ों के मुताबिक पलामू जिले में 2023603 और गढ़वा जिले के लगभग 1877510 रुपये सरकारी खाते में पड़े हैं। देश भर के सबसे पिछड़े सौ जिलों में चिन्हित होने के बाद भी 95 गाँवों में से 45 गाँवों में राहत कार्य ही शुरू नहीं हुए हैं। बीडीओ रवीन्द्रनाथ चौधरी ने इस बात की पुष्टि की है।

भुखमरी पर शोध कर रहे अंतराष्ट्रीय संगठन हंगर प्रोजेक्ट के मुताबिक अगर यह स्थिति लंबे समय तक बनी रहती है तो ऐसी मौतों का एक कारण भुखमरी होता है।

**(रूमनी घोष)**

●●●

# साहूकारों की तिजोरी में गिरवी 'बैगा'*

**प्रशासन के ही संरक्षण में फल-फूल रहे सूदखोर**

सूदखोरी से मुक्ति दिलाने के तमाम वादे भले ही किये जाएँ, लेकिन हकीकत में 'बैगा' आदिवासियों का जीवन पीढ़ी दर पीढ़ी सूदखोरों का गुलाम बना हुआ है। यहाँ तक कि जो आदिवासी पढ़ लिखकर नौकरी पेशा हो गए हैं, वे भी साहूकारों के चंगुल से मुक्त नहीं हैं। ऐसे साक्षर लोगों की पास बुक्स सूदखोरों की तिजोरी में बंद रहती हैं। जब उनकी तनख्वाह बैंक में आती है, तो पहले साहूकार सूद वसूलता है और बची खुची रकम उसे दे देता है।

मंडला जिले के खट्िया वनग्राम का रहने वाला शंकर बैगा पेशे से मजदूर है। वह कान्हा राष्ट्रीय उद्यान के समीप ढाबे में मजदूरी कर गुजर बसर कर रहा था। आठ माह पहले उसने अपनी बहन के विवाह के लिए एक साहूकार से हजार रुपये का कर्ज लिया, जिसके बदले में उसने अब तक सोलह सौ रुपये चुका दिए हैं, लेकिन उसकी उधार की रकम ज्यों की त्यों है। शंकर बताता है कि छह माह पहले जब बारिश के कारण उसे कहीं काम नहीं मिला तो वह साहूकार को सूद का पैसा नहीं दे पाया, जिसके बदले साहूकार ने महीने भर शंकर व उसके परिवार के अन्य सदस्यों से खेतों पर काम करवाया।

**पैसा रखने का ब्याज लेते थे सूदखोर**

डिण्डोरी जिले के बैगा बाहुल्य तांतरी गाँव का किस्सा तो बेहद आश्चर्यजनक है। मस्तमौला और भोले–भाले आदिवासी अब तक बैंक से बेखबर हैं। सो सरकार की कई योजनाओं से उन्हें जो आर्थिक सहायता मिलती थी, वे साहूकार के पास सुरक्षित रहने के हिसाब से जमा कर देते थे। यहाँ के साहूकार भी इतने शातिर कि वे रकम रखने के बदले ब्याज देने की बजाय, उल्टा आदिवासियों से ही सूद वसूल लेते थे। कुछ स्वयंसेवी संस्थाओं ने जब इस अनोखी परम्परा का विरोध किया, तो साहूकारों के इशारे पर पुलिस ने सामाजिक कार्यकर्ताओं को ही धमकाना शश्शुरू कर दिया। इतना ही नहीं प्रशासन और पुलिस ने बैगा बाहुल्य गाँवों की तरफ जाने वाले एनजीओ कार्यकर्ताओं पर भी दबाव बनाया।

* दैनिक जागरण में प्रकाशित

अकेला शंकर ही नहीं है, बल्कि जनजातीय इलाकों में ऐसे हजारों आदिवासी साहूकारों के शोषण के शिकार हैं। अकेले डिंडोरी जिला मुख्यालय में ही कम से कम दो हजार लोग सूदखोरी का काम कर रहे हैं। डिंडोरी जिला कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष चंद्रमणी मिश्रा भी मानते हैं कि अब भी ज्यादातर आदिवासी सूदखोरों की जकड़न में हैं। वे इसके लिए प्रशासन को जवाबदेह ठहराते हैं। श्री मिश्रा कहते हैं कि यहाँ तो प्रशासन तंत्र का संचालन ही सूदखोरों के इशारे पर होता है। वे दावा करते हैं कि जो आदिवासी राजनेता इन इलाकों का नेतृत्व करते हैं, वे भी इन सूदखोरों को संरक्षण देते हैं। पूर्व मंत्री और आदिवासी नेता गनपत सिंह उइके कहते हैं कि आदिवासियों की मजबूरी उन्हें सूदखोरों तक पहुँचा देती है। वे कहते हैं कि सरकार को गरीब आदिवासी की छोटी छोटी जरूरतों को पूरा करने के लिहाज से कर्ज की कोई योजना लागू करनी चाहिए, जिसमें कभी भी जरूरत के समय उधार मिलना चाहिए, वह भी लम्बी–चौड़ी कागजी खानापूर्ति के बगैर। वे कहते हैं कि अगर ऐसी कोई नीति बनायी जाए, तो ही आदिवासी सूद के चंगुल से बच सकते हैं। बालाघाट के भाजपा नेता अभय सेठिया कहते हैं कि सबसे पहले तो आदिवासी इलाकों में बरसों से जमे हुए अफसरों का तबादला किया जाना चाहिए।

**(धनंजय प्रताप सिंह)**

●●●

# और दुष्कर हुआ आदिवासियों का जीवन*

## रोजगार के अभाव में प्रदेश के आदिवासियों की दुर्दशा

हम लोग बालाघाट जिले के आदिवासी बाहुल्य इलाके बैहर गढ़ी से होते हुए बिढ़िया के रास्ते से डिण्डोरी जा रहे थे। रात के लगभग दो बजे थे। बिछिया के आगे घुटास गाँव में आदिवासी महिला–पुरुष सिर पर लकड़ी का गट्ठा लिए जा रहे थे। हमारी गाड़ी की रोशनी देखते ही सिर पर रखा बोझा पटक कर भाग खड़े हुए। ऐसा ही वाकया कई गाँवों से गुजरते हुए देखने को मिला। चलते–चलते हम चार बजे सुबह ग्राम समनापुर पहुँचे। वहाँ जंगल के किनारे आदिवासी अलाव के सामने बैठकर कड़कती ठंड से निजात पाने की कोशिश कर रहे थे। मैंने गाड़ी रोककर आदिवासियों के साथ बातचीत की। इधर–उधर की बातचीत के बाद जब उनसे रात में लकड़ी काटने और ढोने का कारण पूछा तो जवाब सुनकर काफी हैरानी हुई। बैगा बाहुल्य इलाके के लोगों ने समस्या ही समस्या गिना दी। सबसे पहली समस्या थी ईंधन की। जंगल महकमे के कर्मचारियों ने आदिवासियों को जंगल जाने पर पाबंदी लगा रखी है। पाबंदी भी ऐसी कि वे जलाऊ लकड़ी के लिए मोहताज हो गए, अगर कोई जंगल में लकड़ी काटता मिल गया तो उसके खिलाफ आपराधिक प्रकरण दर्ज कर लिया जाता है। गरीब और अशिक्षित आदिवासी जब अपनी व्यथा सुना रहे थे तो जंगल महकमे की दहशत स्वयमेव झलक रही थी। बिछिया निवासी दरबू सिंह कहते हैं कि अगर हम दिन में मजदूरी करने नहीं जाएँ तो बच्चे भूखे मरेंगे और रात में लकड़ी न लाएँ तो घर में चूल्हा नहीं जलेगा।

जंगल पर आश्रित रहने वाले इन आदिवासियों के लिए जंगल ही अभिशाप बन गया है। अमरपुर बेलासर, समनापुर सहित डिण्डोरी के चाड़ा इलाके में रहने वाले तमाम ैगा आदिवासियों के सामने आज भुखमरी का संकट खड़ा है। जिसकी मुख्य वजह है, रोजगार का अभाव। सरकार रोजगार गारण्टी सहित तमाम योजनाओं के जरिये आदिवासियों को काम मुहैया करवाने का दावा जरूर करती है, लेकिन ये सारे दावे हकीकत से कोसों दूर हैं। इन आदिवासी इलाकों में न बिजली हैं, न पानी। छोटे–छोटे गाँवों में रहने वाले आदिवासियों को काम केवल पंचायत के माध्यम से ही मिलता है, वह भी महीने में चार दिन। खूमान सिंह बैगा बताता है कि उसे नवम्बर में ग्यारह दिन काम मिला था, तब से लेकर अब तक कोई काम नहीं मिला। यह कहानी केवल खुमान सिंह की नहीं हैं, बल्कि हर आदिवासी की है।

---

*** दैनिक जागरण में प्रकाशित**

सरकार ने आदिवासी की जंगल पर निर्भरता छीनी तो उनके लिए कोई भी वैकल्पिक उपाय नहीं किए। कान्हा राष्ट्रीय उद्यान की सीमा में जो वनग्राम आते हैं, वहाँ के बैगा आज भी आदिम युग की तरह ही जीवन बिता रहे हैं। गाँव में कोई सुविधा है न ही आजीविका का कोई जरिया। वनग्राम के आदिवासी न तो अपने जानवरों को जंगल में चरा सकते हैं और न ही जंगली जानवरों से खुद की फसल को सुरक्षित रख सकते हैं। इसके साथ ही हमेशा उन पर विस्थापन का दबाव भी बना रहता है। सरकारी नीतियों की उलझन में फँसे आदिवासियों के लिए योजनाएँ भी सपने की तरह हैं। बिजली यहाँ है नहीं, फिर भी राशन दुकान से केरोसिन नहीं मिल पाता। देवरबेली के देव सिंह सैयाम बताते हैं कि पहले तो बाजार के दिन केरोसिन और राशन उचित मूल्य की दुकान पर मिल जाता था, लेकिन अब वह भी नहीं मिलता। नक्सली क्षेत्र होने के कारण कभी कोई सरकारी अफसर भी इन गाँवों की ओर रुख नहीं करते। बालाघाट, मंडला और डिण्डोरी के बैगा–गोड़ बाहुल्य इलाके के लोगों के मुताबिक उनके गाँव में सन् 1980 के बाद से कोई कलेक्टर दौरे पर नहीं आया। ऐसा ही हाल आँगनबाड़ियों का है। आँगनबाड़ी अव्वल तो खुलती नहीं हैं और खुलीं तो उनमें पोषण आहार नहीं मिलता है। पाण्डूतला गाँव में जब हमने आँगनबाड़ी कार्यकर्ता से पूछा कि बच्चों को पोषण आहार क्यों नहीं दिया जा रहा, उसका जवाब था– मुझे ईंधन का पैसा नहीं मिला, काहे में पकाऊँगी।

कुल मिलाकर आदिवासियों की दुर्दशा को समझने वाला कोई नहीं है। 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' की तर्ज पर हर सक्षम व्यक्ति, हर सरकारी महकमा आदिवासियों के शोषण पर उतारू हैं। अव्यवहारिक सरकारी नीतियों ने आदिवासियों का जीवन दुष्कर बना दिया है। जो जंगल कभी आदिवासियों की आजीविका का जरिया होता था, वहीं आज अभिशाप बन गया है। सरकारी नुमाइंदे तो हर कदम पर आदिवासियों को जंगल का दुश्मन साबित कर ही रहे हैं, राजनेता भी इस साजिश में उनका साथ दे रहे हैं। कभी किसी राजनेता ने यह जोखिम नहीं उठाया कि उनके वनवासी मतदाता किस हाल में जीवनयापन कर रहे हैं। बहरहाल अगर सरकार इन मुद्दों पर गौर नहीं करती है तो नक्सलवाद जैसी समस्या से निजात पाना सम्भव नहीं होगा।

(धनंजय प्रताप सिंह)

•••

# ...तो हर 'बैगा' परिवार को मिलते 73 लाख रुपये*

न सड़क, न बिजली और न ही शिक्षा व चिकित्सा, यहाँ तक पीने के लिए शुद्ध पानी तक की व्यवस्था नहीं। यह किसी एक गाँव का नहीं बल्कि उन सभी गाँवों का हाल है, जहाँ बैगा आदिवासी निवास करते हैं। ऐसा नहीं है कि केंद्र और राज्य की सरकारों ने इनके लिए कुछ किया ही न हो! आजादी के बाद से अब तक इन आदिवासियों के कल्याण के लिए 95 अरब से अधिक रुपये खर्च कर दिए गए हैं। बैगा बहुल गाँवों के विकास के नाम पर। सरकार ने जो खर्च किया यदि वही रकम बैगाओं को नगद रूप में दी जाती तो हर बैगा परिवार को 73 लाख रुपये मिल जाते। चाहे डिण्डोरी जिले का बैगा बाहुल्य गाँव तांतरी हो या बालाघाट जिले का हर्राटोला, गुदमा, कुमादेही या महुरदा। इन गाँवों में रहने वाले आदिवासी बैगाओं की आजीविका भी भगवान भरोसे ही चल रही है। सरकार ने जंगल से आश्रय तो छीना, लेकिन रोजगार या जीवन चलाने के विकल्प के तौर पर कोई उपाय नहीं किया। केंद्र सरकार ने आदिवासियों में सबसे पिछड़ी जनजाति का दर्जा दिया हुआ है, इसलिए हर साल केंद्र सरकार भी बैगाओं के विकास के लिए दो करोड़ रुपये देती है।

प्रदेश के पाँच जिलों में बैगा विकास प्राधिकरण काम कर रहे हैं। बैगा विकास प्राधिकरण मंडला के तहत 249 गाँव हैं, जिनमें 23 हजार पाँच सौ नौ बैगा निवास करते हैं। इसी तरह बैगा विकास प्राधिकरण डिण्डोरी में 217 गाँवों में 21 हजार 2 सौ 39, बैगा विकास प्राधिकरण शहडोल के 238 गाँवों में 35 हजार 1 सौ 20, बैगा विकास प्राधिकरण उमरिया के 248 गाँवों में 37 हजार 6 सौ और बैगा विकास प्राधिकरण बालाघाट के तहत आने वाले 191 गाँवों में 13 हजार 9 सौ 57 बैगा निवास करते हैं। इस प्रकार प्रदेश में कुल एक लाख 31 हजार 4 सौ 25 बैगाओं की बसाहट हैं। सरकार ने इन बैगा आदिवासी जनजाति को बचाने और उन्हें विकास की मुख्यधारा से जोड़ने के लिए अब तक 95 अरब 93 करोड़ 66 लाख रुपये से ज्यादा खर्च कर दिए हैं, बावजूद इसके बैगा आज भी लंगोटी ही पहने हुए हैं। इस मोटी रकम का अगर औसत निकाला जाए तो हर आदिवासी परिवार पर 73 लाख रुपये बैठता है। डिण्डोरी के पिछड़े आदिवासियों के पास खेती तक के लिए जमीन तक नहीं है। वे वन महकमे की जमीन पर धान, मक्का, कोदो और कुटकी की फसल लेते हैं। तांतरी गाँव के एक नेता इतवारी सिंह कहते हैं कि बीते पाँच

---

*दैनिक जागरण में प्रकाशित

साल से कभी सूखा तो कभी अन्य प्राकृतिक प्रकोपों ने जिंदगी को और दूभर कर दिया है। अब तो जीवन संघर्ष की अंतिम उम्मीद भी टूटती जा रही है। यही हाल अमूमन हर आदिवासी गाँव का है, जहाँ सवा लाख से ज्यादा बैगाओं की आबादी गाँवों में उपेक्षित जीवन जीने को विवश है। इन गाँवों में सरकार और उसके नुमाइंदों की अनुपस्थिति के बीच कुछ स्वयंसेवी संस्थाएँ कुछ अच्छी उपस्थिति दर्ज करवा रही हैं। मशहूर अंग्रेज लेखक बैरियर एल्विन ने तो सन पचास के दशक में ही बैगाओं पर एक किताब लिखी थी – 'द बैगा'। पचपन साल पहले ही बैगा विकास के नाम पर होने वाले शोषण और लूट का वर्णन श्री एलिवन ने अपनी क़िताब में किया था। आदिवासियों के नाम पर सरकार ने अब तक जो कुछ किया, उसका फायदा बैगाओं की झोली में नहीं गया। इस हकीकत से निपटने के लिए सरकार को ऐसी रणनीति बनानी होगी कि आदिवासी कल्याण की कमान ईमानदार अफसरों को सौंपी जाए, अन्यथा आने वाले दिनों में बैगाओं की हालत और बदतर हो जाएगी।

**(धनंजय प्रताप सिंह)**

•••

# तेरह सूचकों के फेर में फँसी गरीबों की पहचान*

मध्यप्रदेश के सिवनी जिले के गाँधीला गाँव की एक झोंपड़ी में आदिवासी और परित्यक्ता हल्की बाई रहती है। पन्द्रह रुपये की दिहाड़ी पर उसे महीने में लगभग आठ दिन की मजदूरी मिल पाती है। मजदूरी के दौरान एक दुर्घटना में घायल होने पर इलाज कराते-कराते वह 31 हजार रुपये की कर्जदार हो गई। इसके अलावा न तो उसके पास कोई जमीन है, न ही जीवनयापन का दूसरा स्रोत। इन निर्धनतम् परिस्थितियों में रहने के बावजूद हल्की बाई को गरीबी की रेखा के सर्वेक्षण में 19 अंक मिले हैं। इसके मायने यह है कि उसे संपन्न मानते हुये गरीबी की रेखा की सूची से बाहर कर दिया गया है। इसी तरह पोटिया गाँव में रहने वाली विधवा महिला रज्जोबाई को अब तक अति गरीब की श्रेणी में रखते हुये सस्ते राशन वाली अन्त्योदय अन्न योजना का लाभ दिया जा रहा था परन्तु इस बार उन्हें 17 अंक मिले हैं। जिसके आधार पर वह गरीबी की रेखा की सामान्य सूची से ही बाहर हो जायेगी।

यह हल्की बाई और रज्जों बाई के केवल दो अनुभव मात्र नहीं हैं बल्कि इस तरह के दस लाख से ज्यादा परिवार मध्यप्रदेश में हैं जो पात्र और जरूरतमंद होने के बावजूद गरीबी की रेखा की सूची में अव्यावहारिक चयन सूचकों और विसंगतिपूर्ण प्रक्रिया के कारण नहीं आ पायेंगे। स्वशासन के लिये जनतांत्रिक अभियान के व्यापक अध्ययन से यह सिद्ध हो रहा है कि अपने आप को गरीब सिद्ध करने के लिये उन्हें जीवन की सबसे कठिन परीक्षा देना पड़ रही है। इस परीक्षा में एक हद तक सरकार ने अपना भार कम करने के उद्देश्य से पहले से परिणाम तय कर दिये हैं। अभी निर्धनता की रेखा के नीचे रहने वाले लोगों की पहचान करने लिए किए गये सर्वेक्षण में जो सूचक और प्रक्रिया तय की गई हैं, वह अब गंभीर सवालों के दायरे में आ गई है। सर्वेक्षण की प्रक्रिया में 13 सूचकों की एक प्रश्नावली तैयार की गई थी। हर प्रश्न के पाँच विकल्पों को 0 से 4 अंक दिये गये थे। यह स्पष्ट था कि सबसे कम अंक पाने वाले 37.43 प्रतिशत लोगों को गरीब होने की पहचान मिलेगी।

---

* इकानॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली (नवंबर 2004) में अँग्रेजी में प्रकाशित

यदि सूचकों का व्यावहारिक अनुभवों के आधार पर विश्लेषण किया जाये तो स्पष्ट होता है कि सूचकों में भूमि के आकार को ही महत्वपूर्ण माना गया है। उस भूमि से उत्पादन कितना हो रहा है और वह कितनी उपजाऊ है, इस पक्ष को सर्वथा नजरअंदाज किया गया है। गरीबी की रेखा का सर्वेक्षण लोगों के हित में हो, इस उद्देश्य से किये गये जनतांत्रिक प्रयास के दो वर्षों के अध्ययन से पता चला कि 58 फीसदी गाँवों के परिवारों के परिप्रेक्ष्य में भूमि के आकार से ज्यादा उनकी उत्पादन क्षमता को मापना जरूरी है। बैतूल के रैयतवाड़ी गाँव के कोरकू आदिवासी सम्भू के पास 3 एकड़ पहाड़ी, असिंचित, पथरीली और अनुपजाऊ जमीन है परन्तु गरीबी की परीक्षा में 18 अंक देकर उसे अनुत्तीर्ण कर दिया गया।

पिछले पाँच वर्षों में मध्यप्रदेश में विभिन्न योजनाओं और स्वच्छता अभियान में साढ़े छह सौ रुपये का अनुदान देकर सरकार ने गाँवों में दस लाख शौचालय बनवाये हैं। इन शौचालयों को अब सरकार ने गरीबी का सूचक बना दिया है और जिन घरों में शौचालय बने हुये पाये गये, उनके लिये उस योजना का लाभ एक अभिशाप बन गया क्योंकि ऐसे परिवारों को 3 से 4 अंक दिये गये। इसी संदर्भ में महत्वपूर्ण यह भी है कि व्यक्ति के पास यदि पक्का मकान है तो भी उसे अधिकतम अंक मिलेंगे। व्यावहारिक स्तर पर ढाई लाख परिवारों पर इस सूचक का सीधा प्रभाव पड़ा है क्योंकि गरीब परिवारों को सरकार की ओर से 20 वर्ग मीटर का घर बनाने के लिये इंदिरा आवास योजना के अंतर्गत 20 हजार रुपये की सहायता दी जा रही है। जिन परिवारों ने इस योजना का लाभ लिया उनके लिये यह सूचक नकारात्मक ही रहा और पक्का मकान (और पक्के मकान में शौचालय) होने के कारण वे गरीबी की पहचान से वंचित हो गये। यहाँ सवाल यह है कि क्या एक मर्तबा इंदिरा आवास बन जाने से कोई भी परिवार गरीबी की रेखा से ऊपर उठ जायेगा। स्वाभाविक है कि यह कोई ऐसी योजना नहीं है जिससे व्यक्ति को कृषि भूमि की तरह नियमित उत्पादक लाभ मिल सके इसलिए पक्के मकान की परिभाषा को इंदिरा आवास से अलग करके देखा जाना चाहिए था। अध्ययन के दौरान समुदाय से हुई चर्चाओं से यह स्पष्ट हुआ कि व्यापक स्तर पर इन मकानों का निर्माण कार्य पूर्ण करने के लिये उन्हें अपनी जमीन और बैल भी बेचने पड़े, भ्रष्टाचार के कारण पूरी राशि नहीं मिली और फिर भी बड़ा परिवार होने के कारण वे इसका उपयोग नहीं कर पाये।

बैतूल के दूनी गाँव के खुड्डी आदिवासी ने दो वर्ष पहले पलायन के दौरान जहाँ कृषि मजदूरी की थी, वहाँ से उसकी गरीबी को देखते हुये सात कपड़े मिले थे जो अब भी उसके पास हैं परन्तु इन कपड़ों के कारण अब वह गरीब नहीं रहा (ऐसा

सरकार मानती है)। खुड्डी को सर्वे में 18 अंक मिले हैं जिसके कारण वह सूची से बाहर हो गया। सरकार के हिसाब से 4 से ज्यादा कपड़ों वाला परिवार गरीब नहीं रह जाता है। हर गाँव वाले और मानवीय संवेदनाओं में आस्था रखने वाले व्यक्ति ने सूचकों में कपड़ों की उपलब्धता वाले बिन्दु की आलोचना और विरोध किया है। कारण यह है कि गरीब परिवारों को त्यौहारों या अन्य समारोहों के अवसरों पर बेहतर आर्थिक स्थिति वाले परिवारों से इस तरह का सहयोग मिल ही जाता है। गरीबी की परिभाषा तय करने वाले विशेषज्ञों के लिये यह महत्वपूर्ण है कि लोगों को एक समय का भोजन मिलता है या वे दोनों समय पेट भर लेते हैं। यह कतई महत्वपूर्ण नहीं है कि भोजन की गुणवत्ता और पौष्टिकता का स्तर क्या है। सूचकों के अनुसार लोग चाहे भीख माँगे, कचरे में से खाने के टुकड़े बीन कर पेट भरें या फिर महिलायें अपना शरीर बेचकर या मैला ढोकर भूख मिटायें, यदि उनका वर्ष भर पेट भर रहा है तो उन्हें चार अंक दिये जायेंगे।

हालाँकि बैतूल की सिमोरी पंचायत के भूमिहीन रामप्रसाद आदिवासी के पास जीवनयापन का कोई साधन नहीं है पर साइकिल और रेडियो होने के साथ–साथ दो बेटों के स्कूल जाने के कारण वह गरीबी की रेखा की सूची से बाहर हो गया। वर्तमान समय में पाँच सौ से एक हजार रुपये कमाने वाला व्यक्ति भी सौ रुपये का रेडियो, आठ सौ रुपये की टीवी और साइकिल रख सकता है, परन्तु इन वस्तुओं के एवज में गरीब लोगों को 3 से 4 अंक दिये गये हैं।

शिक्षा के मामले में यह मान लिया गया है कि जो शिक्षित है वह गरीब नहीं हो सकता। जिस परिवार में बेकाम और अनुत्पादक स्नातक भी है उन्हें 3 से 4 अंक दिये गये हैं। इस सूचक में सरकार ने सामान्य स्नातक और तकनीकी स्नातक को एक ही तवज्जों दी है जबकि यह किसी भी नजरिये से व्यावहारिक नहीं है। जीवनयापन के साधनों के सम्बंध में सरकार ने कारीगरों को सुरक्षित और स्थाई रोजगार में लगा हुआ माना है और वेतन पर काम करने वाले व्यक्तियों (सरकारी और निजी नौकरी) को एक समान अंक दिये गये हैं। गरीबी के प्रश्न पत्र में सरकार ने एक पहेली को भी स्थान दिया है और यह पहेली है कि लोग किस तरह की सरकारी सहायता चाहते हैं। जो जितनी ज्यादा सहायता की कल्पना करेगा उसे गरीबी की रेखा से उतना ही दूर कर दिया जायेगा और जो कहेगा कि सरकारी मदद चाहिए वह तो सूची से पूरी तरह बाहर होगा। लोगों को लगा कि शायद सरकार कुछ मदद देने वाली है इसलिये उन्होंने लाख रुपये की जरूरत दर्ज करा दी और जो अत्यंत गरीब हैं वे तो अब कल्पना ही नहीं कर पा रहे हैं कि सरकार

उनके कल्याण के लिये कुछ करेगी, इसलिये सहायता की कल्पना भी नहीं करते हैं। ऐसे में उन्हें तीन और चार अंकों से नवाजा गया।

गाँव में लोग किस तरह की कर्ज व्यवस्था में फँसे हुये है। इसका अध्ययन न तो सरकार ने किया है न योजना आयोग ने। जिन लोगों ने बैंक से कर्ज लिया है उन्हें अमीर मानते हुये तीन अंक दिये गये है और जमीनी सच्चाई यह है कि आदिवासी इलाकों में बैंकों ने जमकर कर्ज बाँटा है। लेकिन गरीबी में कोई अंतर नहीं आया। झाबुआ की पेटलावद तहसील में ही तीन साल में बैंकों ने 12 करोड़ रुपये बाँटे और आज वहाँ के ज्यादातर आदिवासी डिफाल्टर हैं या अपना घर, जमीन बेचकर बैंक का कर्ज चुका रहे हैं। इसी तरह जिस पर कर्ज नहीं है वह अमीर है, जबकि इसका एक पक्ष यह है कि जो बिल्कुल ही निर्धन है वह न तो कर्ज लेता है न उसे कोई कर्ज देता है।

यहाँ शायद कोई यह प्रश्न खड़ा कर सकता है कि क्या गरीबों की पहचान की इस प्रक्रिया में कोई संभावना नहीं है?बेशक संभावना है बशर्ते इसके स्वरूप का निर्धारण मानवीय नजरिये से किया जाता। अभी यह स्पष्ट रूप से महसूस होता है कि सरकार अपने अलग–अलग विभागों के कामों के बारे में यह सिद्ध करना चाहती है कि शौचालय और इंदिरा आवास से गरीबी दूर हुई है, हर गाँव में शिक्षा गारण्टी शाला से लोग आत्मनिर्भर हो गये हैं। साथ ही इस प्रक्रिया में यह जिम्मेदारी कहीं तय नहीं की गई कि यदि किसी अमीर या अपात्र व्यक्ति का नाम सूची में पाया गया तो किस पर क्या कार्रवाई की जायेगी। सबने अपना काम पूरा किया है पर संवेदनशील भूमिका निभाये जाने की जरूरत अभी शेष है अन्यथा वास्तव में गरीब व्यक्ति इन तेरह सूचकांकों के फेर से आने वाले कई वर्षों तक नहीं निकल पायेगा।

**किसे मिलेगा गरीब होने की पहचान का सुख –** मध्यप्रदेश के बैतूल जिले का आदिवासी हर्रा वनग्राम किसी भी सड़क से जुड़ा हुआ नहीं है। सतपुड़ा के घने जंगलों में बसे इस गाँव में पिछले पाँच वर्षों में विकास का एक भी काम नहीं हुआ है। लोग कच्चे झोंपड़ों में रहते हैं और मजदूरी के लिए पलायन करते हैं। वनग्राम होने के कारण विकास की राशि वन विभाग के खाते में चली जाती है परन्तु गाँव में कोई निवेश नहीं हुआ है। 1997–98 में गरीबी की रेखा के नीचे रहने वाले परिवारों की सूची में इस गाँव के तीस परिवार थे परन्तु इस बार के सर्वेक्षण के सूचकों और प्रक्रिया के आधार पर केवल एक परिवार को गरीब माना गया है वहीं दूसरी ओर जब स्व शासन के लिये जनतांत्रिक अभियान ने गाँव में सघन रूप से सहभागी अध्ययन किया तो पता चला कि इस गाँव के 51 परिवार निर्धनतम स्थिति में होने के बावजूद सूची में नहीं आ पाये हैं।

यह उदाहरण केवल हर्रा वनग्राम का ही नहीं है प्रदेश के हर गाँव में दस से पंद्रह फीसदी परिवार गरीब होने के बावजूद गरीबी की पहचान से वंचित रह गये हैं। अर्थशास्त्रियों के अध्ययनों के इस निष्कर्ष के बावजूद कि मध्यप्रदेश में गरीबी कम नहीं हुई है बल्कि बढ़ी है, जब योजना आयोग द्वारा यह तय किया गया कि पिछले पाँच वर्षों में मध्यप्रदेश में गरीबी 5 फीसदी घटकर 37.35 प्रतिशत हो गई है तो इस आकलन पर व्यापक सवाल खड़े हो गये। सर्वोच्च न्यायालय ने भी 8 मई 2003 को दिये अपने एक आदेश में यह निर्देश देकर गरीबी की रेखा के नीचे रहने वाले परिवारों की सूची पर सवालिया निशान लगा दिया कि सभी आदिम जनजातियों, एकल महिला परिवार, मानसिक एवं शारीरिक रूप से विकलांग व्यक्ति वाले परिवारों का नाम गरीबी की सूची में हो चाहे न हो, उन्हें गरीबों की अंत्योदय अन्न योजना का लाभ तत्काल दिया जाना चाहिए। इसके मायने यह है कि गरीबतम् स्थितियों में रहने वाले इन वर्गों के पाँच लाख से ज्यादा परिवार अभी गरीबी की सूची में शामिल नहीं हैं। बहरहाल सरकार ने इतना तो मान लिया है कि 1997–98 में हुआ सर्वेक्षण चरम स्तर पर विसंगतिपूर्ण था। उस समय सुनियोजित प्रक्रिया और निगरानी के अभाव में ज्यादातर अपात्र लोग गरीबों की सूची में अनाधिकृत रूप से प्रवेश कर गये इस कारण गरीबों को जनकल्याणकारी योजनाओं का लाभ नहीं मिल पाया।

अनुभव बताते हैं कि गरीबी की पहचान की इस प्रक्रिया में अब भी कई विसंगतियाँ रह गई हैं। जनतांत्रिक अभियान ने 230 से ज्यादा संस्थाओं के सहयोग से दस हजार गाँवों में सर्वेक्षण की प्रक्रिया की निगरानी की और सहज बनाने की कोशिश की। अभियान अपनी उपस्थिति के कारण ही यह स्पष्ट कर पाया कि मण्डला जिले के झालपानी गाँव के चमरू सिंह को इसलिये बीपीएल सूची से बाहर हो जाना पड़ा क्योंकि सर्वेकर्ता ने उससे बिना पूछे ही अपनी मर्जी से फार्म भर लिया। इस बात को नजरअंदाज किया गया कि वह बँधुआ मजदूर है। इसी तरह पन्ना जिले में सर्वे के नाम पर गरीब परिवारों से दो सौ रुपये का सेवा शुल्क लिया गया। समाजशास्त्री मानते हैं कि हमारे समाज के 7 से 10 फीसदी लोग छिपी हुई गरीबी और भुखमरी का हर रोज सामना करते हैं। परन्तु उन शारीरिक और मानसिक रूप से विकलांग, मैला ढोने वाले समुदाय, भीख माँगकर गुजारा करने वाले लोगों से जुड़े सवालों को कहीं स्थान नहीं दिया गया।

सर्वेक्षण के आधार पर दिये गये अंकों (13 प्रश्नों के अधिकतम् कुल 52 अंक निर्धारित किये गए हैं) में से सबसे कम अंक वाले ही इस सूची में शामिल होंगे। अतः सही लोगों का चयन हो, इसके लिये गाँव में किसे कितने अंक प्राप्त हुये हैं इसकी

सूची ग्रामसभा में पढ़कर सुनाये जाने की व्यवस्था की गई थी। ग्रामसभा को ही यह सैद्धान्तिक अधिकार दिया कि वह गाँव में रहने वाले वास्तविक गरीबों की सूची का अनुमोदन करे। परन्तु इस प्रक्रिया में बहुत दुविधा की स्थिति बनी रही। प्रावधान यह किया गया कि पहली ग्राम सभा में सूची पढ़े जाने के बाद उस पर आये दावों और आपत्तियों का निराकरण किया जायेगा, तत्पश्चात्, दूसरी ग्रामसभा में संशोधित सूची का अनुमोदन कराया जायेगा। सरकार के ऊँचे अधिकारी तो हर बैठक में यही कहते रहे कि दो ग्रामसभायें होंगी परन्तु जनपद पंचायत के अधिकारियों ने पहली ग्रामसभा को ही अंतिम घोषित कर दिया। पेटलावद में जनपद पंचायत के कार्यपालन अधिकारी ने बाकायदा लिख कर यह निर्देश दिये। इसके बावजूद अभी तक कोई स्पष्ट आदेश जारी करके राज्य शासन ने दुविधा दूर नहीं की है। कोतमा जनपद पंचायत के अधिकारी ने तो सूची को सार्वजनिक करने से ही यह कह कर इनकार कर दिया कि यह एक गोपनीय दस्तावेज है। दूसरी ओर बैतूल जिले की भीमपुर जनपद पंचायत के अधिकारी ने स्वैच्छिक संस्थाओं द्वारा किये जा रहे प्रयासों को गैर–कानूनी घोषित कर उन्हें रोकने के निर्देश दिये। 100 पंचायतों में हुये अध्ययन के अनुसार 67 में सूची अनुमोदन के लिये दूसरी ग्रामसभा की बैठक ही नहीं हुई और जहाँ सूची पढ़ी गई वहाँ गाँव वालों को यह नहीं बताया गया कि उन्हें मिलने वाले अंकों का अर्थ क्या है? कितने अंक मिलने पर वे गरीबी की रेखा के संरक्षण में होंगे और कितने अंक मिलने पर बाहर। एक तरह से अगर अब भी इस प्रक्रिया में ग्रामसभा को शामिल नहीं किया गया तो एक बार फिर गरीबों की सूची में संपन्न और प्रभावशाली लोगों का वर्चस्व होगा।

राजनैतिक निहितार्थों के चलते सरकार ने वरिष्ठ अर्थशास्त्रियों सुन्दरम् और तेंदुलकर के अध्ययन के उन निष्कर्षों को झुठला दिया है जो यह सिद्ध करते हैं कि सामान्य वर्ग बहुल जिलों की अपेक्षा अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति बहुल इलाकों में गरीबी के कम होने की दर बहुत कम होती है। सरकार के अनुसार पिछड़े हुए बालाघाट जिले में गरीबी का प्रतिशत 63.82 से कम होकर 53.63 प्रतिशत हो गया यानी वहाँ 10.19 प्रतिशत की कमी हुई। इसी तरह आदिवासी बहुल मण्डला और डिण्डोरी भी सबसे तेजी से गरीबी से मुक्त हुये वहाँ गरीबी क्रमशः 9.43 और 9.11 प्रतिशत कमी आई। 90 फीसदी आदिवासी जनसंख्या वाले झाबुआ जिले में गरीबी 54.37 प्रतिशत से घटकर 45.69 प्रतिशत रह गई है। इसके विपरीत संपन्न और सामान्य वर्ग बहुल जिलों में गरीबी उन्मूलन की दर सबसे कम रही है, दतिया में 2.72, इन्दौर में 3.18, उज्जैन में 4.69, ग्वालियर में 4.9 और होशंगाबाद में 5.64 प्रतिशत गरीब कम हुए हैं।

यह मानने के बाद भी कि 1997–98 का सर्वेक्षण विसंगतिपूर्ण, अतार्किक और अन्यायपूर्ण था, एक बार फिर सरकार ने उसे ही नये सर्वे का आधार बनाया है। उसी अनुपात को आधार बिन्दु मानकर राज्य और जिलों का गरीबी का मानकीकरण किया गया है। इस अर्थशास्त्र का राजनैतिक नजरिये से विश्लेषण करने की जरूरत है। मध्यप्रदेश की राजनीति में जिन जिलों और समुदायों का वर्चस्व रहा है उन जिलों में गरीबी का प्रतिशत भी उन्हीं की मंशा के आधार पर तय किया गया। नरसिंहपुर कृषि भूमि और उत्पादकता के मामले में अग्रणी है फिर भी वहाँ 46.58 फीसदी गरीब हैं, होशंगाबाद भी कृषि उत्पादन का बड़ा केन्द्र बना परन्तु वहाँ केवल 5.64 प्रतिशत गरीबी कम हुई है। वहीं दूसरी ओर जहाँ लोग भूख से मर रहे हैं ऐसे सहरिया आदिवासी बहुल शिवपुरी और श्योपुर जिले में केवल 24.89 और 26.14 प्रतिशत ही लोगों को गरीबी की रेखा के नीचे रखा गया है। बालाघाट, मण्डला और बड़वानी में गरीबों की संख्या अभी ज्यादा जरूर है पर पिछले सर्वेक्षण की तुलना में वहाँ सबसे ज्यादा संख्या कम की गई है।

जिले में गरीबी का प्रतिशत बीपीएल का कटऑफ बिन्दु (वह बिन्दु या न्यूनतम अंक जिसे पाने वाले सूची में स्थान पायेंगे) तय करने की प्रक्रिया में बहुत महत्वपूर्ण माने जायेंगे। जिले में जितने बीपीएल परिवारों का प्रतिशत तय किया गया है उतने परिवार न्यूनतम जितने अंक पायेंगे, उन्हें गरीब मान लिया जायेगा। वही अंक जिले का कटऑफ बिन्दु होगा। सिवनी के कूड़ो डोबरी गाँवों के गुलाब आदिवासी के परिवार को 20 अंक मिले हैं। आठ सदस्यों वाले रोज 35 रुपये कमाने वाले इस परिवार का नाम सूची में नहीं आ पायेगा क्योंकि सिवनी जिले में सरकार के हिसाब से 34.79 प्रतिशत परिवार ही गरीब की सूची में आ सकते हैं और 13 अंक के स्तर पर यह आँकड़ा पूरा हो रहा हैं इसलिये जिले के लिए यही कटऑफ बिन्दु तय कर दिया गया फिर चाहे गुलाब भूखों ही क्यों न मर जाये।

आँकड़ों के नजरिये से देखा जाये तो बालाघाट में 53.63 प्रतिशत बीपीएल परिवार तय किये गये हैं और इतने परिवार 14 अंक प्राप्त कर रहे हैं, तो वहाँ का बिन्दु 14 घोषित किया गया। इसी तरह मण्डला (15), बड़वानी (15) से लेकर मुरैना (12), दतिया (13), शिवपुरी (12) और ग्वालियर (13) के कटऑफ बिन्दु तय हुये हैं। यहाँ एक विसंगति यह है कि इस तरह कटऑफ बिन्दु तय करने से यह सिद्ध होगा कि हर जिले में गरीबी के मापदण्ड अलग–अलग हैं और सरकार केवल आँकड़ों से मेल बिठाने की कोशिश कर रही है। हालाँकि अभी यह सुझाव भी आया है कि जिलों के बजाय राज्य के स्तर पर सर्वे प्रपत्रों को एक सूची में दर्ज कर लिया जाये और उसमें यह देखा जाये कि किस अंक तक 37.43 प्रतिशत लोग आ रहे हैं। उस

अंक को कटऑफ माना जाये और फिर उस सूची में शामिल लोगों को जिलावार सूची में बाँट दिया जाये। अभी सरकार समरूपता से ज्यादा आसान रास्ते को तबज्जो दे रही है।

यह मानते हुये कि तकनीकी प्रक्रिया और तय किये गये सूचकों से वस्तुपरक सर्वेक्षर्ण नहीं हो पायेगा, मध्यप्रदेश सरकार ने अगस्त 2002 में केन्द्र सरकार की विशेषज्ञ समिति को कुछ व्यावहारिक सुझाव देते हुये कहा था कि अपात्र लोगों को सूची से बाहर करने और सही लोगों को चुनने के लिये गाँव में सहभागी पद्धति से आर्थिक वर्गीकरण (वैल्थ रैंकिग) की प्रक्रिया अपनाई जाये। साथ ही ग्रामसभा अपने यहाँ के गरीबों की सूची तय करे और हर राज्य को अपनी जरूरत और गरीबी के स्वरूप के अनुरूप सर्वे प्रपत्र में बदलाव करने की स्वतंत्रता दी जाये राज्य के इन सुझावों को केन्द्र ने नहीं माना क्योंकि उसका निर्णय पत्थर की लकीर था। इसके बाद राज्य सरकार ने न तो स्वयं यह मुद्दा फिर उठाया न ही अपने अधिकार क्षेत्र में कुछ रचनात्मक पहल करने की कोशिश की। यही कारण है कि सर्वेक्षण में ग्रामसभा की सीमित सहभागिता के सवाल उठने लगे हैं। कुछ अनुभवों से साफ हो रहा है कि दावे–आपत्तियाँ लगने के बाद भी सूचियों में संशोधन नहीं किये जा रहे हैं क्योंकि इससे सर्वेकर्ता संदेह के दायरे में आ जायेंगे। ऐसी स्थिति में गरीबी की रेखा की सूची में कई वास्तविक लोग नहीं आ पायेंगे।

एक आकलन अब मूर्तरूप लेने लगा है कि व्यवस्था नहीं चाहती है कि गरीब वास्तव में गरीबी से मुक्त हों। परन्तु वह यह भी चाहती है कि कोई यह न कहे कि प्रदेश में गरीबी और भुखमरी है। इस विचार के यह मायने हो सकते हैं कि गरीब को उस सीमा तक गरीब रहने देना चाहिए, जहाँ तक उसमें प्रतिक्रिया करने की भावना न जागे। इसके लिए उसे इतना भोजन (पोषण नहीं) उपलब्ध कराना चाहिये जितने से उसे शरीर की भोजन की थैली के भरे होने का अहसास होता रहे, रोजगार या सहायता भले न मिले पर उम्मीदें बरकरार रहे। वह भी रोटी, कपड़ा और मकान की चिंता से मुक्त न हो सके ताकि कहीं वह समाज की चिंता न करने लगे। अब यह भी एक सच है कि गरीब और गरीबपना किसी के लिये लाभदायक सौदा हो सकता है। निश्चित रूप से गरीबी में जीवनयापन करने वाला यह समुदाय मजदूर के रूप में सबसे कम मूल्य पर सबसे ज्यादा उत्पादक भूमिका निभाता है और राजनीतिज्ञों के लिये वह सत्ता सुख का साधन है। गरीब अधिकारों के मामले में किस हाशिये पर खड़ा है उसका अंदाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि वह गरीब है या नहीं, वह भूखा है या नहीं यह तय करने का अधिकार भी उसका नहीं है।

**कौन हैं वे, जिनकी भूख और गरीबी मौन है?** – बड़वानी जिले में पार्टी में रहने वाला नाथू आदिवासी मानसिक रूप से विकलांग है। रहने को गाँव में एक छोटी सी झोंपड़ी है जिसमें करवट लेने में भी एहतियात बरतनी पड़ती है। उसकी देखभाल करते हुये पत्नी को कभी–कभार मिलने वाली मजदूरी से महरूम हो जाना पड़ता है। खाने के लाले पड़ना तो जैसे रोजमर्रा की बात है। गाँव की सभा, पंचायत और समुदाय सब कोई मानते हैं कि नाथू को सरकारी सहायता मिलना चाहिए, जो उसे कभी मिल नहीं पाई। सर्वोच्च न्यायालय ने भी अपने आदेश में कहा है कि हर उस परिवार को सस्ते राशन वाली अंत्योदय अन्न योजना का लाभ मिलना चाहिये जिसमें मानसिक या शारीरिक रूप से विकलांग व्यक्ति हो। इसी उम्मीद के सहारे नाथू ने भी अंत्योदय कार्ड के लिए आवेदन दिया था परन्तु मानसिक रूप से विकलांग होने का प्रमाण पत्र संलग्न न होने के कारण उसे अपात्र करार दिया गया। मध्यप्रदेश में गरीबी और भूख के साथ मानसिक विकलांगता की मार झेलने वाले 70 हजार लोगों के लिये जीवन किसी शाप से कम नहीं है। उन्हें अपने हक हासिल करने के लिये प्रमाण पत्र दिखाना होता है और यह प्रमाण पत्र सरकारी मनोचिकित्सक द्वारा ही दिया जाता है। यह एक संकट का मुद्दा है क्योंकि मध्यप्रदेश के दूसरे कई जिलों की तरह बड़वानी के जिला चिकित्सालय में भी कोई विशेषज्ञ मनोचिकित्सक नहीं है। स्वाभाविक है कि ऐसी अवस्था में उन तक योजनाओं का लाभ प्रशासनिक विसंगतियों के कारण नहीं पहुँच पा रहा है। सरकारी आँकड़ों के मुताबिक मध्यप्रदेश में कुल 11.31 लाख विकलांगों में से 8.9 लाख (लगभग 78 प्रतिशत) विकलांग गरीबी की रेखा के नीचे जीवनयापन कर रहे हैं। परन्तु इनमें से केवल 3.8 लाख लोगों को ही सामाजिक सुरक्षा पेंशन योजना का लाभ मिल रहा है। विश्लेषण बताते हैं कि विकलांग लोगों की पहचान न होने, प्रमाण पत्र न होने और भ्रष्टाचार के कारण अब भी बहुत बड़े हिस्से को सामाजिक सुरक्षा नहीं मिल पा रही है। ऐसा साफ तौर पर महसूस होता है कि सरकार विकलांगता को गरीबी का मापदण्ड नहीं मानती है और इसके प्रमाण हैं गरीबी की रेखा के नीचे रहने वाले परिवारों की पहचान के सूचकांक। इन सूचकांकों में दो–तीन जोड़ी कपड़ों, पंखों, साइकिल को तो गरीबी का सूचक माना है परन्तु विकलांगता को किसी भी रूप में दर्ज ही नहीं किया गया।

विकास और समतामूलक समाज की स्थापना की दिशा में हो रहे प्रयासों में अब भी छिपी हुई गरीबी को भोगने वाले समूहों को नजरअंदाज किया जा रहा है। उन समूहों की समस्याओं को व्यापक समस्याओं से अलग करके देखने का नजरिया जिस तरह विकसित हुआ है उससे उनकी पीड़ा चरम स्तर पर पहुँची है।

इंसानी समाज का एक हिस्सा, जिसे वाल्मिकी समाज और हैला जाति के रूप में जाना जाता है, आज भी मानव मल की सफाई करने का काम करता है। इस परम्परा को रोकने के लिये कानून बने, अपराधी के लिये सजा हो गई परन्तु उनकी दूसरे समुदायों द्वारा की जाने वाली उपेक्षा और नजरों में चुभो देने वाली छुआछूत की भावना को किस तरह समाप्त किया जायेगा? भौंरासा (जिला–देवास) की शोभा बाई पाँच सौ रुपये के एवज में पचास घरों का मैला साफ करती थीं। उनके परिवार में छह बेटियाँ हैं और पति विकलांग। आखिकार गरिमा की खातिर उन्होंने यह काम छोड़ दिया; सोचा यह था कि कुछ और व्यवसाय या मजदूरी कर लेंगे। पर जब से मैला ढोने का काम छोड़ा है तब से उन्हें पूरे इलाके में मजदूरी तक नहीं दी गई, राशन की दुकान से राशन भी नहीं मिलता है। आत्मसम्मान की खातिर उन्हें रोटी के लाले पड़ गये और सरकार की नीति के अनुरूप मैला ढोने का काम छोडने के कारण उनके बेटे को पढ़ने के लिये मिलने वाला वजीफा भी बंद कर दिया गया। सवाल यह है कि क्या सरकार शोभाबाई जैसे 18 हजार मैला ढोने वाले परिवारों को यह अमानवीय व्यवसाय करते रहने के लिये प्रेरित कर रही है? जब भी गरीबी से लड़ने की बात की जाती है तब उस लड़ाई का मतलब होता है गरीबी को बढ़ाने, स्थाई बनाने, शोषण को प्रोत्साहित करने वाली प्रक्रिया के विरूद्ध संघर्ष करना। गरीबी को केवल भोजन की उपलब्धता और उपभोग की मात्रा से मापा नहीं जा सकता है। हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि भेदभाव और सामाजिक विसंगतियाँ अपने आप में गरीबी को विस्तार देने वाले सबसे बड़े कारण हैं।

आर्थिक एवं सांख्यिकीय आधारों पर यह माना जाता है कि हमारी सामाजिक परिस्थितियों मे लगभग सात से दस फीसदी परिवार ऐसे हैं, जो प्राकृतिक एवं मानव निर्मित आपदाओं, विकलांगता और विसंगतिपूर्ण सरकारी नीतियों के कारण खाद्य असुरक्षा की सबसे विकट अनुभवों का सामना करते हैं। अब ऐसा वर्ग विस्तार पाने लगा है क्योंकि आतंकवाद और साम्प्रदायिक दंगों के कारण भुखमरी से जूझने वाले परिवारों की संख्या हर वर्ष तेजी से बढ़ रही हे। पिछले एक दशक में 13 लाख परिवारों को इन कारणों से गरीबी को अपनाना पड़ा है।

सामान्य दैनिक जीवन में हर कोई फुटपाथ पर रहने वाले बच्चों और परिवारों पर नजर डाल कर गुजर जाता होगा। मध्यप्रदेश में 23 हजार परिवार किसी न किसी रूप में फुटपाथों पर रहते हैं और इन्हें गरीबी से जुड़ी किसी कल्याणकारी योजना का लाभ नहीं मिलता है क्योंकि फुटपाथ पर रहने वालों का कोई स्थाई निवास नहीं होता है और स्थाई निवास (पता) न होने के कारण उनका राशन कार्ड नहीं बनाया जाता है। उल्लेखनीय है कि राशन कार्ड केवल राशन

दिलाने वाला नहीं बल्कि इस देश के नागरिक होने का प्रमाण देने वाला दस्तावेज भी है पर यह फुटपाथ पर रहने वालों को नहीं मिल पाता हैं। यह वही वर्ग है जो मौसम की मार को उसके चरम पर भी झेलता है और उसकी उपेक्षा की जाती है। जीवन में अस्थाईत्व होने के कारण वे चूल्हा भी जला नहीं पाते हैं। विडम्बना यह है कि ऐसे आश्रयहीन बच्चे या तो खाना खरीदते हैं या भीख माँगते है या फिर कचरे में से खाने के टुकड़े बीन उन्हें अपनी भूख मिटाने की कोशिश करना पड़ती है। संकट इतना गहरा है कि वे अपनी कमाई से कुछ बचत भी नहीं कर सकते है क्योंकि तब सवाल यह होता है कि उस बचत को रखेंगे कहाँ?

साम्प्रदायिक दंगों की राजनीति अब अपने आप में गरीबी और भुखमरी का एक कारक बनती जा रही है। इन दंगों के कारण न केवल लोगों के जीवनयापन के साधन उजड़ते हैं बल्कि तिनका–तिनका जोड़ कर बसाये गये घरौंदे भी तहस–नहस हो जाते हैं। गुजरात, मुम्बई और देश के दूसरे हिस्सों में बड़े स्तर पर हुई हिंसाओं ने यह साबित किया है कि जब लोग शांति से रह रहे होते हैं तब इस तरह की घटनाओं से उनका ध्यान बुनियादी मुद्दों से हटाने की भरसक कोशिशें होती हैं। किसी भी तरह का मुआवजा किसी भी सम्प्रदाय के परिवार को होने वाले नुकसान की भरपाई नहीं कर सकता है। ऐसे माहौल में पिछले वर्ष गुजरात में साढ़े तीन हजार परिवारों में कोई भी कमाई करने वाला व्यक्ति जिन्दा नहीं रहा और कई के अंग भंग हो गये।

भोपाल गैस त्रासदी के बाद सरकार ने शम्सुन निशा सरीखी महिलाओं के लिए एक विधवा कॉलोनी ही बसा दी। वहाँ दीवारों से बने मकान तो हैं पर वह मानव निर्मित त्रासदी उनके घर–परिवार का सुख छीन ले गई। उनके पति की मृत्यु तो हो ही गई और खुद शम्सुन निशा गैस के प्रभाव के कारण अक्षम हो गई। ऐसे में परिवार को पालने के लिये आठ साल के बेटे अजीम को अपना बचपन छोड़कर सड़क पर आना पड़ा। स्थिति यह है कि गैस कांड से गंभीर रूप से प्रभावित 18 हजार परिवारों में से ज्यादातर के सामने जीवनयापन करने के साधनों का स्थाई संकट खड़ा हो गया और उन्हें बैठे–ठाले स्वागत करना पड़ा गरीबी और भुखमरी का।

कुष्ठ रोग और एच.आई.वी. एड्स से पीड़ित व्यक्तियों का समूह भी बहु–आयामी विपन्नता का संकट झेलता है। एक ओर तो बीमारी के कारण वे शारीरिक कष्टों का सामना करते है तो वहीं दूसरी ओर समाज की घृणा उन्हें हर पल दुखदायी मौत देती हैं। ऐसी बीमारियों से पीड़ित व्यक्ति काम कर सकते हैं,

आत्म निर्भर हो सकते है। परन्तु नकारात्मक सामाजिक मान्यतायें उन्हें समाज से ही नहीं अपने परिवार से भी बहुत दूर कर देती हैं। राजस्थान में ऐसे 20 हजार लोगों की पहचान हो चुकी है जिन्हें एच.आई.वी. एड्स के कारण त्याग दिया गया और ये लोग अब आश्रयविहीन स्थिति मे हैं। संभवतः यह एक ऐसा पक्ष है जिस पर किसी सरकारी योजनाओं की नहीं मानवीय संवदेनाओं की जरूरत है।

आधुनिक सिद्धांतों में गरीबी से निपटने की कार्ययोजना में सक्षम को प्राथमिक स्थान देते हुये किसी भी कारण से असक्षम हुये लोगों की उपेक्षा की जाती है। यह एक सामाजिक नजरिया बन गया है। हर रोज अपने दैनिक जीवन की गतिविधियों को संचालित करते हुये हम किसी न किसी भीड़ में से गुजरते हैं और उस भीड़ में कौन होता है, यह शायद ही हमने कभी गौर किया हो। उस भीड़ में होते हैं वृद्ध, कचरा बीनने और फुटपाथ पर रहने वाले बच्चे, मानसिक शारीरिक रूप से विकलांग लोग, और कभी–कभी पेट की खातिर देह व्यापार करने वाली लड़कियाँ। ये कभी भी गरीबी की परिभाषा में शामिल नहीं किये जाते हैं। इनसे संबन्धित यदि कुछ होता है तो बंदीगृह या सुधार गृह की स्थापना। नई संस्थायें बना कर इन्हे 'सभ्य समाज' से अलग कर दिया जाता हैं ताकि वे समाज की सभ्यता को नुकसान न पहुँचा सकें और इस तरह समाज और सरकार ऐसे बड़े समूह के प्रति अपनी जवाबदेही से निजात पा लेती है। हमारे आस–पास ही ऐसे कई लोग हैं जो छापामार गरीबी से जूझ रहे हैं, उनके बारे में एक मर्तबा ठोस कदम उठाने की जरूरत है। यह जरूरी इसलिए है क्योंकि काम का अधिकार इन वर्गों को अपने दायरे में नहीं लेता है और ये काम के बदले अनाज वाली सोच का सामना नहीं कर पायेंगे। ऐसे में सामाजिक सुरक्षा के दायित्व को पुनर्जीवित करने की पहल करनी होगी।

(सचिन कुमार जैन)

●●●

# क्यों है बीटी बैंगन एक खतरा?*

हम सबने सुना कि अब बाजार में बीटी बैंगन के बीज आ रहे हैं। बहुत से शहरी लोग नहीं समझ पायेंगे कि ये बीटी बीज क्या होते हैं? इसका अर्थ यह है कि बैंगन के जहर बुझे बीज। बीटी बीज बनाने वाली कम्पनी का कहना है कि बैंगन या आलू की फसल को कीटों से बचाने के लिये ऊपर से कीटनाशकों का छिड़काव करना पड़ता है, इसलिये समस्याओं से बचने के लिये कम्पनी ने बीज में ही कीटनाशक (यानी जहर) प्रवेश करा दिये हैं यह तकनीक कुछ और नहीं, केवल बीजों, कीटनाशकों और नई समस्याओं के समाधान का बाजार खोजने की रणनीति है। और भूमण्डलीकरण में आम लोगों के लिये इसी बाजार से निपटना सबसे बड़ी चुनौती है।

भूमण्डलीकरण वास्तव में एक स्पष्ट रूप से नजर आने वाली वस्तु नहीं है। यह तो एक प्रक्रिया है और इसमें खास बात यह है कि जब तक हम इस प्रक्रिया के वर्तमान पहलुओं और सिद्धान्तों को समझ पाते हैं तब तक इसका रूप बदल चुका होता है। फिर भी जब हम कृषि के भूमण्डलीकरण की बात करते हैं तब यह साफ तौर पर दिखता है कि बाजार में बैठी हुई कम्पनियों का मकसद केवल लाभ कमाना है। इस आर्थिक लाभ को कमाने के लिये वे यह तर्क अपने तथा कथित अध्ययनों–विश्लेषणों से स्थापित करते हैं कि किसान जितने संसाधनों का उपयोग करते हैं, उसके अनुरूप फायदा नहीं कमा पाते हैं। सबसे ज्यादा हानि फसलों में अलग–अलग बीमारियों और कीटों के हमलों से होती है। और जब बीमारियाँ होती है तो किसानों को तरह–तरह के कीटनाशकों का छिड़काव करना पड़ता है, जिसमें खेती की लागत बढ़ती है। यह तर्क वास्तव में पूरी व्यवस्था की कमजोर नब्ज है जिस पर कम्पनियों ने अपना हाथ रख दिया। अब कम्पनियों ने जैव परिवर्द्धित (जैनेटिकली मोडिफाईड बीज) बीजों का विकल्प खड़ा कर दिया है। जैव तकनीक के जरिये कम्पनियों ने बीजों के भीतर ही कीटनाशकों का प्रवेश करा दिया है। उनका दावा है कि यदि किसान उनकी कम्पनी के बीजों का उपयोग करेंगे तो उन्हें कीटनाशकों का उपयोग नहीं करना पड़ेगा। इससे कृषि की लागत कम होगी और उत्पादन भी बढ़ेगा। इन बहुराष्ट्रीय कम्पनियों ने भूमण्डलीकरण की राजनीति के जरिये विकासशील देशों (खासतौर पर कृषि प्रधान अर्थव्यवस्था पर आधारित भारत जैसे देशों पर) पर अपना शिकंजा कसना चाहती है, क्योंकि यहाँ की जनतांत्रिक व्यवस्था की कमजोरियाँ उन्हें रास आई। भ्रष्टाचार और तकनीकी जाल में उलझे सरकारी संस्थान भी अब बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के निर्देशों पर नीतियाँ बनाते हैं।

---

*** नई दुनिया में प्रकाशित**

रणनीति के तौर पर हमें इस राजनीति का विश्लेषण करना जरूरी है। अमेरिका हमेशा से आर्थिक उपनिवेशवाद का ध्वज़ वाहक रहा है। वह दुनिया में कहीं भी वास्तविक जनतंत्र का हिमायती नहीं रहा है। यही कारण है कि जैव तकनीक को सबसे पहले और सबसे ज्यादा अमेरिकी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों ने ही बढ़ावा दिया और अमेरिकी सरकार ने अपनी नीतियाँ भी उन्हें मदद करने वाली ही बनाईं। इतना ही नहीं वह वैश्विक मंचों पर भी जैव तकनीक की वृद्धि का खुलकर पक्ष लिया। सन् 2002 में विश्व खाद्य सम्मेलन में गरीबी–भुखमरी पर चर्चा हुई। और विकसित देशों ने कहा कि भूमण्डलीकरण से ही भुखमरी मिट सकती है और बायोटेक्नालॉजी के जरिये ही संकट को हल किया जा सकता है।

तभी अमेरिका के कृषि सचिव ने यह विवाद भी खड़ा कर दिया कि सम्मेलन के घोषणा पत्र में सभी देश जीएम फसलों को बढ़ावा देने पर सहमति जाहिर करें और अपनी नीतियाँ इसी तरह बनायें। अमेरिका के दबाब में जैव परिवर्धित तकनीक को भुखमरी मिटाने के लिये जरूरी मानना पड़ा। यह स्वीकार न करने की स्थिति में अमेरिका ने धमकी तक दे दी थी कि वह विश्व खाद्य सम्मेलन के घोषणा पत्र पर हस्ताक्षर नहीं करेगा।

यह एक सर्वमान्य तथ्य है कि कृषि पर जीवन निर्भर करता है कृषि पर बाजार कभी हावी नहीं रहा, ऐसे में इस पर नियंत्रण हासिल करने के लिये जैव तकनीक का सहारा लिया गया। जैव तकनीक अब बहुत तेजी से कृषि का बाजारीकरण तो कर ही रही है परन्तु चिंताजनक तथ्य यह है कि इससे मानवता पर भी संकट छा रहा है। जिस कीट से फसल को बचाने के लिये बैक्टिरिया बीजों में प्रवेश कराया जा रहा है क्या वह उन लोगों पर असर नहीं करेगा जो जैव परिवर्धित बीजों से उपजाये गये फल या सब्जी खायेंगे। जैव परिवर्धित बीजों (बीटी बीज) के कितने खतरनाक प्रभाव पड़ते हैं इसके दो उदाहरण हमारे सामने आ चुके हैं। बीटी कपास की खेती करने वाले हजारों किसान घाटे में डूब कर कर्ज के जाल में फँसे और उन्हें आत्महत्या करना पड़ी। इसी फसल के पेड़ और कपास के फल खाकर 1600 भेड़ें मर गई। शुरुआत तो बीटी कपास से हुई थी परन्तु अब भारत सरकार की जेनेटिक इंजीनियरिंग एप्रवुल कमेटी (जी ई ए सी) ने तो खाद्य फसलों के लिये भी जहर बुझे बीजों के उपयोग को अनुमति देना शुरू कर दिया है।

बहुराष्ट्रीय बीज निर्माता कम्पनी मोनसेंटो ने एक फर्जी अध्ययन कर बताया कि कीटों और बीमारियों के कारण हर वर्ष 22.1 करोड़ डालर का बैंगन उत्पादन बेकार हो जाता है। जबकि वास्तविकता यह है कि इतनी राशि का तो कुल बैंगन उत्पादन ही नहीं होता है। बैंगन के बीजों में मोनसेंटों कम्पनी ने वही बैक्टिरिया–

"क्राय 1 एसी" जीन डाला है जो कपास के बीज में डाला गया था। वही कपास का बीज जिसकी फसल को खाकर 1600 भेड़ें मर गई थीं।

खाद्य बीजों, खास तौर पर बैंगन के बीजों में जिस "क्राय 1 एसी जीन" को प्रवेश कराया गया है, उसके प्रभावों का प्रयोग चूहों पर किया गया। उससे पता चला कि यह प्रतिरोधक क्षमता को कमजोर करता है और आँतों में चिपक जाता है। पूर्व के क्राय 1 एसी जीन के परीक्षण यह सिद्ध करते हैं कि उससे जीवों में जबरदस्त एलर्जी होती है और यदि यह जीन लगातार मानव शरीर में प्रवेश करेगा तो वह कभी भी खतरनाक बीमारियों से नहीं उबर पायेगा। जीएम खाद्य पदार्थों पर हुआ कोई भी अध्ययन यह सिद्ध नहीं करता है कि ऐसे बीज या उत्पादन जानलेवा खतरनाक रसायनों और संकटों से मुक्त हैं। यही कारण है कि किसी भी विकसित देश ने अपने यहाँ जीएम खाद्यान्न को प्रोत्साहित नहीं किया है।

बीटी बैंगन के बीजों में एनपीटी–2 जीन का भी प्रयोग किया गया है। वास्तव में यह जीन कैनामायसिन प्रतिरोध के रूप में जाना जाता है। इसके कारण मानव शरीर की प्रतिरोधक क्षमता और कोशिकायें खत्म हो जाती है। यदि व्यक्ति बीटी बैंगन का उपयोग करता है तो उस पर एंटीबायोटिक दवाओं का असर भी खत्म हो जायेगा।

एक तरफ तो सरकार हेपेटाईटस–बी जैसी बीमारी से निपटने के लिये कार्यक्रम बना रही है तो वहीं दूसरी ओर इसी तरह की बीमारी फैलाने वाले कालीफ्लोवर मोसियेक वायरस की बीटी बैंगन के जरिये मानव शरीर में प्रवेश कराने की अनुमति बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को दे रही है। सरकार बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के कुदृष्टि को भाँप नहीं पा रही है। ये कम्पनियाँ नई तकनीक से बने बीजों के नकारात्मक प्रभावों को छिपाती रही है। जो कम्पनी बीटी बैंगन के बीजों का उत्पादन करवा रही है उसने पहले बीटी मक्का के घातक परिणामों को छिपाया है। बीटी मक्का के प्रयोगों से पता चला था इससे किडनी में असमान्यता आ जाती है और खून में श्वेत रक्त कोशिकाओं का स्तर बढ़ जाता है। कम्पनियाँ कहती हैं कि उस बीज से बैंगन के बीज का सम्बंध नहीं है पर सच यह नहीं है। कई वरिष्ठ वैज्ञानिक मानते हैं कि जैव परिवर्धित बीजों का व्यापारिक उपयोग करने से पहले उसके प्रभावों का परीक्षण कई पीढ़ियों पर करना होगा ताकि इसके प्रभावों को जाँचा–परखा जा सके परन्तु लाभ कमाने को तत्पर बाजारू कम्पनियाँ इंसानी समाज के अस्तित्व को ही दाँव पर लगा रही है।

यह एक षड्यंत्र है भारत की जैव विविधता को खत्म कर देने का। हमारे देश में चार हजार सालों से बैंगन का उत्पादन हो रहा है और इसकी मात्रा किसी

भी तरह से कम नहीं है। बीटी कम्पनियाँ जिस तरह से बीजों के चरित्र में रासायनिक गुणधर्मों में परिवर्तन कर रही हैं उससे भारत में खाद्य पदार्थों और सब्जियों के प्राकृतिक बीज खत्म हो जायेंगे। और तब हर किसान को कम्पनी के बीज पर ही निर्भर रहना होगा। यह तथ्य भी जान लेना जरूरी है कि बीटी बैंगन में उपयोग किये गये क्राय 1 एसी जीन तितलियों को खत्म कर देता है। क्या हम भारत की रंगबिरंगी तितलियों को खत्म कर देना चाहते हैं?

संकट केवल बैंगन तक सीमित नही है। आलू का उत्पादन भी बढ़ाया जा सकता है यह तर्क बाजार ने फैला दिया है। और उत्पादन में वृद्धि करने के लिये आलू के बीज में मकड़ी के जीन प्रवेश कराये गये हैं। तर्क यह दिया गया की इस आलू में प्रोटीन ज्यादा है और यह प्रोटीन गरीबों के लिये ज्यादा फायदेमंद हैं परन्तु इस दावे की तब हवा निकल गई जब हिमाचल प्रदेश के आलू में भी बहुत कम प्रोटीन की बात सिद्ध हो गई।

चावल अब केवल एक खाद्यान्न फसल नहीं है बल्कि दूसरी हरित क्रान्ति और बाजार में इसकी बहुत अहम भूमिका है इसीलिये चावल में बिच्छू के जीन शामिल किये गये हैं। इसी तरह अरहर, सरसों, टमाटर, मूँगफली, मक्का जैसी 10 खाद्यान्न फसलों के लिये अनुमति की माँग की गई है। खाद्यान्न फसलों की तो शुरुआत है परन्तु बीटी खाद्य को स्थापित करने के लिये बहुराष्ट्रीय कम्पनियों ने जो रणनीति अपनाई उसे हमें समझना होगा। ये कम्पनियाँ पेटेंट और एकाधिकार के नाम पर बाजार से देशी और स्थानीय बीजों पर रोक लगवा देती है। तब केवल उन्हीं का बीज बाजार में होता है और किसान की मजबूरी होती है कि वह हर कीमत पर इन्हें खरीदे। फिर चूँकि यह बीज जैव परिवर्धित बीज हैं इसलिये इन पर केवल एक विशेष प्रकार के कीटनाशकों का ही असर होता है। और यह विशेष कीटनाशक भी वही खास कम्पनी बनाती है। इसे खरीदना भी किसान की मजबूरी हो जाती है। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि अब कृषि क्षेत्र में आत्मनिर्भरता जैसे शब्दों के अर्थ कभी नहीं खोजे जा सकेंगे। अब किसान और बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के बीच नौकर और मालिक के रिश्ते होंगे। जहाँ तक सरकार की भूमिका का सवाल है तो यह कड़वा सच है कि सरकार केवल दलाल की भूमिका निभायेगी।

**(सचिन कुमार जैन)**

●●●

# दो पसेरी गेहूँ के कर्ज में 16 बीघा जमीन गँवाई*

## पिता के क्रियाकर्म के लिए लिया था मजबूर आदिवासी ने कर्जा

सहरिया आदिवासी बृजलाल ने अपने पिता दुज्जी के क्रियाकर्म के लिए गाँव के व्यक्ति से 8 साल पहले दो पसेरी गेहूँ लिया था। उसे नहीं मालूम था कि इसके एवज में उसके परिवार के 8 सदस्यों को न केवल साल भर मजदूरी करनी पड़ेगी, बल्कि अपनी 16 बीघा जमीन से भी हाथ धोना पड़ेगा। पिछोर विकासखण्ड के वपाबली गाँव के बृजलाल का परिवार अब निर्वासित जीवन जी रहा है और उसकी जमीन पर गाँव के ही बब्बू राजा का कब्जा है। उक्त बात की जानकारी देते हुए बृजलाल ने जिला कलेक्टर को एक आवेदन देकर जमीन वापस दिलाने, मजदूरी के पैसे दिलाने और अपने परिवार के जान–माल की रक्षा की गुहार की है। बृजलाल का कहना है कि वपाबली से 6 किलोमीटर दूर हिम्मतपुर गाँव में वह रह रहा है। गाँव वापस जाने और अपनी जमीन और पैसे माँगने पर बब्बू राजा का परिवार उसे जान से मारने की धमकी देता है। अनपढ़ आदिवासी बृजलाल एवं उसके परिवार ने घटना की विस्तृत जानकारी देते हुए बताया कि लगभग 8 साल पहले दुज्जी की मौत पर उसके परिवार ने एक तसला गेहूँ (लगभग दो पसेरी) गाँव के ही बब्बू राजा ठाकुर से उधार लिया था। साल भर बाद बब्बू राजा ने उसकी 16 बीघा जमीन पर कब्जा कर लिया और कहा– तुम्हारे बाप ने एक क्विंटल गेहूँ उधार लिया था। तुम गेहूँ लौटा दो तो हम जमीन वापस कर देंगे। नहीं दे सको तो हमारे यहाँ मजदूरी पर लग जाओ। साल भर बाद तुम्हारे परिवार की जितनी मजदूरी हो जाएगी, इसमें से अपना पैसा काटकर तुम्हारी बाकी बची मजदूरी और खेत वापस कर दूँगा।

इसके बाद बब्बू राजा के घर बृजलाल, उसकी माँ सरजू, बहनें रमको, सावो, गुड्डी, बहनोई घासी, सुरतिया व परिवार का एक अन्य सदस्य वीजा ने मजदूरी की। सावो ने अपने कटे कान को दिखाते हुए बताया कि मजदूरी के दरम्यान उनके साथ जानवरों जैसे व्यवहार किया जाता था। खेत के साथ–साथ वे लोग मवेशियों एवं घर का भी काम करते थे। साल भर बाद जमीन और मजदूरी का पैसा माँगने पर उन्हें मारा–पीटा गया। उन्हें धमकी दी गई कि गाँव छोड़कर भाग जाओ नहीं तो जान से मार दिए जाओगे। तब से पूरा परिवार हिम्मतपुर में अपने एक रिश्तेदार के घर शरण लिए हुए है। बेवा सरजू ने बताया कि सबसे पहले वह अपनी समस्या

---

* दैनिक जागरण में प्रकाशित

लेकर वपाबली के सरपंच नारायण सिंह गुर्जर के पास गई थी। वहाँ सरपंच ने इस मामले में किसी भी तरह का सहयोग नहीं दिया। गाँव के दबंग व्यक्ति के खिलाफ सरपंच कुछ भी नहीं बोल पाया। वे लोग भौती थाना के अंतर्गत आने वाली खेड़ चौकी पर भी शिकायत की, पर किसी तरह की कोई कार्रवाई नहीं हुई। एक बार पूर्व कलेक्टर मुक्तेश वासने द्वारा आायोजित जन समया निवारण शिविर में भी आवेदन देने की कोशिश उन लोगों ने की थी, पटवारी ने शिकायत पत्र को निकाल लिया और कहा कि वह उनकी शिकायत दूर कर देगा। उनकी शिकायत कलेक्टर तक नहीं पहुँच पाई और वे लोग आज भी मारे–मारे फिर रहे हैं। इस सम्बंध में कलेक्टर एम. गीता से चर्चा की गई। उन्होंनें इस बात को स्वीकार किया कि कई गाँवों में पट्‌टे की जमीनों पर दबंगों का कब्जा है। अनपढ़ आदिवासियों को कर्ज के नाम पर उनकी भूमि से बेदखल करने की घटनाओं की शिकायतों के निराकरण और पट्‌टे पर कब्जा दिलाने के लिए राजस्व अधिकारी प्रत्येक छह माह में गाँवों में जाते हैं। जब उन्हें बताया गया कि यह मामला वर्षों पुराना है तो उन्होंने कहा कि आदिवासियों द्वारा दिए गऐ आवेदन को अभी उन्होंने नहीं देखा है। सहरिया आदिवासियों को शोषण से बचाने और शासन की योजनाओं को उन तक पहुँचाने के लिए कार्यरत एक्शनएड के नरेन्द्र कुमार ने बताया कि पूरे जिले में सहरिया आदिवासियों को कई तरह के शोषण का सामना करना पड़ता है। अपनी जमीन रहते हुए भी उन्हें दूसरे के यहाँ मजदूरी करनी पड़ती है।

**(राजु कुमार)**

●●●

# 2 महिला सशक्तिकरण और स्व-शासन

## हिंसा से त्रस्त हैं गोकुल ग्राम की महिलाएँ*

**गोकुल ग्राम की महिलाओं की व्यथा कथा बता रही हैं नीति**

ग्रामीण जनों की भलाई के लिए शुरू की गई तमाम परियोजनाओं के बाद पुनः गाँव को स्वस्थ, समृद्ध, सुविधासंपन्न और आत्मनिर्भर बनाने की संकल्पना के साथ शुरू की गई गोकुल ग्राम योजना में निश्चित तौर पर महिलाओं के सशक्तिकरण को अहमियत देने की मंशा भी जाहिर होगी, किन्तु जब यही दलित आदिवासी महिलाएँ अपनी संगठित ताकत और जागृति के बल पर गाँव के वास्तविक विकास के बारे में सवाल लेकर उठ खड़ी हुई तो उन्हें अश्लील आरोप और भद्दी गालियों का सामना ही नहीं करना पड़ा बल्कि जवाब में मारपीट जैसी हिंसा भी झेलना पड़ी। होशंगाबाद जिले के बागरातवा रेलवे स्टेशन से महज 3 किमी पर बसा महेन्द्रवाड़ी गाँव मप्र के 1150 ग्रामों में से एक है, जिसे बाबई ब्लॉक के गुडला, पांजरा, खुर्द, गौल गाँव के साथ ही आदर्श ग्राम के रूप में स्थापित करने के लिए गोकुल ग्राम घोषित किया गया है।

दलित आदिवासी आबादी से भरपुर इस गाँव में पूर्व पंचायत के तहत पाँच गाँव और नवीन पंचायत परिसीमन के तहत पोथिया और महेन्द्रवाड़ी को शामिल किया गया है। चूँकि महेन्द्रवाडी गाँव को विशेष योजना के तहत चुना गया है, तो प्रशासनिक कर्मचारियों, मीडिया और अन्य संस्थाओं का आना जाना स्वाभाविक तौर पर शुरू हो गया है। इसी तारतम्य में 6 दिसम्बर 04 को गाँव में समस्या निवारण शिविर का आयोजन किया गया था। जिसमें बड़ी संख्या में गाँव की महिलाओं ने भी हिस्सेदारी निभाई। अपनी दैनिक मजदूरी छोड़कर शिविर में पूरी उम्मीद के साथ शामिल हुई महिलाओं को पक्का भरोसा था कि अब तो हम गरीबों

---

* दैनिक जागरण में प्रकाशित

की जरूर सुनवाई होगी। इन महिलाओं में कोई विधवा पेंशन की दरकार लेकर आई थी तो कोई परिवार सहायता योजना की उम्मीद से कुछ महिलाएँ कुटीर और स्वरोजगार के साधन मुहैया कराने की गुजारिश के साथ यहाँ तक चलकर आई थी। व्यक्तिगत हितों से उपर उठकर ग्रामीण महिलाओं ने मीटिंग में उपस्थित बाबई जनपद पंचायत के मुख्य कार्यपालन अधिकारी को पिछले पाँच वर्षों में पंचायती राज के नाम पर हुए फर्जी विकास कार्यों से अवगत कराया। इन महिलाओं का कहना था कि पाँच सालों में न तो हम दलित आदिवासियों की समुचित सुनवाई हुई और न ही गाँव में वास्तविक विकास के काम सार्वजनिक रूप से गाँव के उप सरपंच के ऊपर लगे इन आरोपो को प्रशासनिक अधिकारियों ने सुना, किन्तु सरपंच के पद का भरपूर इस्तेमाल कर रहें उप सरपंच लालता प्रसाद साहू को यह बात नागवार गुजरी क्योंकि महिलाओं ने सार्वजनिक रूप से उठाए गए मसलों पर उनसे स्पष्टीकरण माँगा तो यह बात उप सरपंच को अपमानजनक लगी।

वर्षों से गाँव की सत्ता संभाल रहे उप सरपंच गाँव के प्रमुख कर्ताधर्ता होने के नाते, कई प्रमुख समिति के सदस्य होने से लेकर उन तमाम समितियों और संस्थाओं की जिम्मेदारी भी संभाल रहे है, जिनसे गाँव में उनकी धाक भी जमी रहे और पैसा भी मिले। अपने अधिकारियों के प्रति लामबंद हुई इन महिलाओं की सक्रियता देख शिविर संपन्न होते ही उप सरपंच ने महिलाओं को अश्लील गालियाँ देना और घटिया चारित्रिक आरोप लगाना शुरू कर दिया। त्रस्त महिलाएँ जब रिपोर्ट लिखवाने थाने पहुँची तो उपसरपंच पूर्व में ही वहाँ मौजूद था। रिपोर्ट होने के बावजूद कार्यवाई न होने और अपराधी के प्रत्यक्ष रूप से घूमने के बाद भी गिरफ्तारी न होने के खिलाफ मामला आगे बढ़ता न देख 14 दिसम्बर 04 को जब महिलाओं ने बाबई में रैली निकालकर जनपद कार्यालय और थाने का घेराव किया तो उनका साथ देने अन्य गाँव की महिलाएँ भी आ पहुँची। इन महिलाओं की माँग थी कि उस व्यक्ति के खिलाफ जनपद कार्यालय किस तरह की कार्यवाही कर रहा है। साथ ही पुलिस ने इस मामले पर क्या भूमिका निभाई। शांतिबाई का आरोप था कि उप सरपंच आर्थिक रूप से संपन्न है और दबंग भी, इसलिए हर कोई उसका साथ देने को तैयार है किन्तु हम गरीब की इज्जत से खिलवाड़ होने के बाबजूद भी हमारा साथ देने वाला कोई भी नहीं है। विकेन्द्रीकृत व्यवस्था की सबसे सशक्त इकाई ग्रामसभा की महिलाओं ने चर्चा के दौरान अपनी आपबीती सुनाते हुए कहा कि पाँच वर्ष पूर्व जब आदिवासी सीट आरक्षित हुई तो गाँव के ही रामगोविन्द आदिवासी को सरपंच चुन लिया गया, किन्तु उसका वास्तविक अधिकार और पद तो उप सरपंच के पास था। सरपंच तो नाममात्र की भूमिका निभा रहा था। सारे कारोबार का

मालिक उप सरपंच ही हो गया। गाँव में जब भी गरीब कोई समस्या लेकर जाते तो हर समय यही आश्वासन मिलता कि आपका काम अब कर देंगे किन्तु अब तक कुछ नहीं किया।

गंगाबाई बताती है कि मात्र 20 वर्ष की उम्र में विधवा होने के बाद पिछले नौ वर्षों से सिर पर लकड़ी का गठ्ठा रखकर 24 किमी तक बेचने जाती है। आर्थिक तंगी से जूझ रही गंगाबाई ने पिछले छह बार विधवा पेंशन की दरखास्त दी किन्तु उन्हें हिंसा के सिवाय आज तक कुछ नहीं मिला हिंसा से त्रस्त महिलाएँ बार–बार सवाल कर रही थी, कि क्या गोकुल ग्राम में महिलाओं को ऐसी ही बेइज्जती का सामना करना पड़ेगा। क्या वाकई में दलित आदिवासी महिलाओं की जागृति सरकार को पसंद नहीं आ रही है। अपने अधिकारों के प्रति जागरूक हुई ये महिलाएँ परम्परा से हो रहे शोषण के खिलाफ लामबंद होना शुरू हो गई है। पिछले कुछ वर्षों से किसान आदिवासी संगठन, समाजवादी जन परिषद् के बैनर तले संगठित हुई इन महिलाओं को बुलंद आवाज अब सिर्फ एक गाँव, एक कस्बा, एक शहर तक ही नहीं सुनी जाएगी, बल्कि दूर–दूर तक उसी बुलंदी के साथ सुनी जाएगी कि – ''जान जावे पर हक मेरा न जावे'', ''महिलाओं ने ठाना है हिंसा का खौफ मिटाना है''।

**(नीति दीवान)**

●●●

# एक पहल महिलाओं की*

आरक्षण के बलबूते पंचायत की सत्ता में रही महिलाओं के सामूहिक प्रयास से अब नयी पंचायतों तक का गठन सम्भव है। इसका एक उदाहरण है रणायरा गाँव की महिलाएँ। पंचायत परिसीमन पर आपति दर्ज कराने गरोठ पहुँची इन ठेठ आदिवासी महिलाओं की माँग थी कि हमारी पंचायत वहाँ हो जहाँ हम आसानी से पहुँच सकें। आदिवासियों ने महिलाओं की इस माँग पर पुनर्विचार कर नवीन पंचायत का गठन कर दिया। मध्यप्रदेश के मालवा अंचल का मंदसौर जिला 423 ग्राम पंचायतों और पाँच विकासखंडों में विभक्त है। जिले के गरोठ जनपद पंचायत के अंतर्गत ग्राम पंचायत खजूरीरुड़ा की महिलाओं की जागरूकता पूरे जिले के लिए उदाहरण बन गयी है। पंचायत के पिछले दो कार्यकालों के चुनाव से पहले हुए परिसीमन के बावजूद 2005 में होने वाले चुनाव पूर्व राज्य में परिसीमन की कार्यवाही शुरू हुई। इसके तहत गरोठ तहसील की ग्राम पंचायत खजूरीरुड़ा के अंतर्गत आने वाले गाँव रणायरा को ग्राम पंचायत गुरिड़िया नरसिंग मे शामिल कर दिया गया। गाँव वालों द्वारा आपत्ति करने पर रणायरा गाँव को फिर ग्राम पंचायत खजूरीरुड़ा के अंतर्गत घोषित कर दिया गया लेकिन गाँव वाले चाहते थे कि रणायरा ग्राम पंचायत को नवीन पंचायत घोषित किया जाये। उनका कहना था कि रास्ते में नदी नालों के कारण बारिश के दिनों मे आने–जाने की परेशानी के कारण वे पंचायत के कामों में सक्रिय भूमिका नहीं निभा पाते। खासकर महिलाएँ। सरकार ने जब उनकी बात पर ध्यान नहीं दिया तो गाँव की महिलाएँ एकजुट हो गयी। क्योंकि सबसे ज्यादा कठिनाइयों का सामना वे ही कर रही थीं। घीसीबाई ने बताया कि पंचायत का मुख्यालय खजूरीरुड़ा, उनके गाँव रणायरा से दस किलोमीटर दूर है और बारिश के दिनों में नदी–नाले के कारण उन्हें पंचायत तक पहुँचने में बहुत कठिनाई होती थी। इस कारण महिलाएँ चाहते हुए भी न ग्रामसभा में सक्रिय भागीदारी निभा पाती थी और न पंचायत के अन्य कामों में।

1999 के पंचायत चुनाव में जब यह सीट पिछड़ी जाति की महिला के नाम आरक्षित हुई, तो गाँव वालों ने जसोदा बाई को अपना प्रतिनिधि चुन लिया। जसोदा बाई बताती है कि पंचायत के काम में जो दिक्कतें अन्य महिलाओं के सामने थी, उनका सामना उन्हें भी करना पड़ा। महिलाओं की मदद न होने के कारण उन्हें अकेले ही सब कुछ करना पड़ता था या फिर हर समय पंचायत के कामकाज के लिए पति पर निर्भर रहना पड़ता था। सबसे ज्यादा कठिनाई तो बारिश के दिनों में

* सहारा समय में प्रकाशित

होती थी। पुरुष तो किसी भी तरह पंचायत मुख्यालय पहुँच जाते थे किन्तु महिलाओं से कई बार कहने के बाबजूद वे कभी मीटिंग मे उपस्थित नहीं हो पायी। जबकि बीस वाडों की पंचायत में दो महिला पंच रणायरा गाँव की भी है। घीसीबाई ने बताया, ''पिछले दस वर्षों के अनुभवों को देखते हुए इस बार हमने सोचा की अगर पंचायत हमारे गाँव के नजदीक हो तो हर महिला सक्रिय भूमिका निभा सकती है। किन्तु इस बार के परिसीमन में जिस पंचायत से हमें जोड़ा गया, वहाँ भी यही परेशानी थी। जब पंचायत परिसीमन की घोषणा हुई तो सबसे पहले गाँव के पुरुषों ने आपति जताई, किन्तु उनकी आपति को सरकार ने खारिज कर दिया।'' लालाबाई बताती है, ''दरअसल उसमें महिलाओं की परेशानी नही बतायी गयी थी। अपनी परेशानी बताते हुए हमने जब सामूहिक अर्जी लिखी और कई बार अनुविभागीय अधिकारी से मिलने गये तो उन्होंने आश्वासन देते हुए हमारे गाँव को फिर खजूरीरुड़ा पंचायत में मिला दिया।'' 47 वर्षीय घीसीबाई बताती है, ''इसके बाद हमने नयी पंचायत के गठन के लिए जरूरी औपचारिकताओं के ब्यौरे के साथ नया आवेदन पत्र बनाया, जिसमें पुरानी पंचायत में भूमिका न निभा पाने के कारणों का भी पूरा उल्लेख था। हमें उम्मीद थी कि हमारी माँग जरूर पूरी हो जायेगी। अनुविभागीय अधिकारी ने हमारी माँग पर गौर करते हुए कलेक्टर को अवगत कराया। अधिकारियों ने काफी विचार–विमर्श के बाद तीन दिन पश्चात् कछालिया गाँव को मिलाकर रणायरा को नवीन पंचायत घोषित कर दिया।

इस जीत ने गाँव की महिलाओं का हौसला बढ़ा दिया। यही नहीं गरोठ तहसील के आदिवासी बहुल गाँव रणायरा निवासी अनपढ़ जसोदा बाई ने सरपंच चुने जाने के बाद कछालिया, रणायरा और खजूरीरुड़ा के विकास के लिए कई काम किये। उन्होंने दो स्टॉपडेम, पेयजल योजना, पेंशन, इंदिरा आवास, तालाब गहरीकरण, स्कूल भवन और दस परिवारों को सहायता योजना का लाभ दिलवाया। अपनी पंचायत में महिलाओं को सक्रिय कर उनके 12 समूह बनाकर रोजगार के साधन उपलब्ध कराये। आज ये महिलाएँ मजदूरी करने के बजाय घर पर ही चटाई बनाने, दलिया बनाने, उन की बुनाई, भैस पालन, बकरी पालन जैसे छोटे–छोटे घरेलू उद्योगों के माध्यम से अपने परिवार पाल रही है। जसोदाबाई, घीसीबाई, सोहनबाई, सीताबाई की सूझबूझ और जागरूकता की बदौलत गाँव की अन्य महिलाएँ संगठित होकर पंचायत ही नहीं बल्कि हर मोर्चे में अपनी उपस्थिति दर्ज कराने के लिए तैयार है।

**(नीति दीवान)**

●●●

# पंचायती राज और परिवार नियोजन*

**विधायक और संसद इस विधान से बरी क्यों**

ग्राम पंचायत के चुनाव की तैयारियों के साथ ही मध्यप्रदेश में पंचायत परिसीमन से लेकर पदों के आरक्षण का काम भी लगभग पूरा हो गया है, पदों के आरक्षण के तहत एक ग्राम पंचायत में सामान्य सीट घोषित होने के साथ ही एक ग्रामीण नागरिक की खुशी का ठिकाना नहीं था। दरअसल पिछले दोनों कार्यकालों में पंचायत का नेतृत्व महिलाओं के हाथ में था, किन्तु इस बार उन्हें पूरा भरोसा था कि वे पंचायत के इस तीसरे सत्र में अवश्य ही सत्ता हासिल कर पाएँगे। कारण भी स्पष्ट था, एक तो सामान्य सीट घोषित होना और दूसरा बड़ा कारण था उनका दो बच्चों के कानून के दायरे से बाहर होना, किन्तु सत्ता सुख हासिल करने का उनका ये सपना उस समय टूट गया। जब वे चुनाव के ठीक माह भर पूर्व दूसरी जुड़वा संतान के पिता बन गए। पूर्व से एक संतान होने और दूसरे बच्चे जुड़वा होने यानी कुल तीन संतान के पिता होने के कारण इस बार ही नहीं बल्कि वे अब हमेशा के लिए पंचायती सत्ता सुख से वंचित रह गए। इस घटना से वे अपनी पत्नी और नवजात बच्चों से तो नाखुश हैं ही, उससे कहीं ज्यादा सरकार से दुःखी हैं।

> **हर साल सैकड़ों की संख्या में ग्रामीण जन खासकर बच्चे भुखमरी, कुपोषण और स्वास्थ्य सुविधाएँ न मिलने से छोटी-मोटी बीमारियों के चलते मौत के मुँह में समा जाते हैं। वहीं मरने वालों का आँकड़ा हर वर्ष बढ़ता ही जा रहा हैं। इस अभाव में जीवन जी रहे ग्रामीणों के सामने यह खौफ बना रहता है कि कुल संतान में से कितनी संतान जीवित और स्वस्थ बचेंगी, जो उसके बुढ़ापे का सहारा बन सकें।**

पिछले चार वर्षों से कानून लागू होने के पश्चात् मध्यप्रदेश सहित भारत के नौ राज्यों में लगभग चार हजार प्रतिनिधियों को सत्ता छोड़ना पड़ा और अब तो आगामी चुनाव में स्पष्ट दिशा-निर्देश के चलते वे ही प्रतिनिधि चुनाव लड़ने के काबिल होंगे, जिनकी 26 जनवरी 2001 के पश्चात् दो से अधिक संतान न हो। अगर सिर्फ म.प्र. का उदाहरण ही देखा जाए तो यहाँ कानून लागू होने के पश्चात् लगभग 1200 प्रतिनिधियों को हटाया गया (अंतिम आँकड़ा बढ़ते क्रम में होगा) जिनमें सिर्फ पंच-सरपंच ही शामिल हैं। इसके अलावा नगरपालिका, नगर पंचायत और नगर निगम के प्रतिनिधियों को भी कानून का शिकार होना पड़ा।

---

* नवभारत में प्रकाशित

'दो बच्चों के कानून का जनप्रतिनिधियों पर असर' विषय पर एक स्वयंसेवी संस्था द्वारा म.प्र. के 15 जिलों में किए गए अध्ययन से जो तथ्य और आँकड़े निकलकर आए, वो चौंकाने वाले भी हैं और मानव अधिकार विरोधी भी। जहाँ सरकार ने कानून के दायरे में आने वाले प्रतिनिधियों को पदमुक्त किया तो वहीं उन्हें कुछ सरकारी योजनाओं से वंचित रखने को भी तय किया है। हमेशा के लिए सत्ता से दूर रहने के लिए वे लोग सबसे ज्यादा शिकार हुए है, जो दलित, आदिवासी हैं या कमजोर आर्थिक स्थिति के हैं, जो न तो बचाव के लिए न्यायालय तक जा सकें और न ही अन्य हथकंडे अपना सकें। जिन्हें ठीक 10 वर्ष पूर्व 73 वाँ पंचायत राज संशोधन अधिनियम लागू का आरक्षण की बैसाखियों के सहारे सरकार ने मुख्यधारा के मानुष के बराबरी पर खड़ा करने की पुरजोर कोशिश शुरू की थी, किन्तु कानून के सबसे ज्यादा शिकार भी यही लोग हुए। अध्ययन से निकले आँकड़ें बताते हैं कि सामान्य जाति के 6 प्रतिशत प्रतिनिधि कानून की चपेट में आए तो पिछड़ा वर्ग के 22 प्रतिशत और अनुसूचित जाति, जनजाति के 72 प्रतिशत लोग कानून की गिरफ्त में फँसे हैं। इन प्रतिनिधियों में ज्यादातर 25 से 40 के मध्य आयु वर्ग के हैं, अनपढ़ है एवं कानून से अनभिज्ञ भी। महिला एवं बाल अधिकार विरोधी कानून लागू होने से सबसे ज्यादा हिंसा का सामना महिलाओं को करना पड़ रहा है चाहे प्रभावित प्रतिनिधि स्वयं महिला हो या पुरुष प्रभावितों की पत्नी। उन्हें मानसिक, शारीरिक और आर्थिक हिंसा झेलकर कानून की कीमत चुकाना पड़ रही है। कानून की गिरफ्त में आए इन प्रतिनिधियों ने कहीं बच्चे को ज्यादा अहमियत देते हुए स्वीकार कर लिया है कि बच्चे तो भगवान की देन है और हमारी जरूरत भी। इन लोगों का मानना है कि सरपंची तो मात्र 5 वर्ष की है किन्तु बच्चा तो जिंदगी भर साथ देगा, कमाएगा, खिलाएगा और बुढ़ापे की लाठी बनेगा। किन्तु कुछ लोगों ने सरकार की इस नीति से बचाव करने के लिए कई अनैतिक तरीके इजाद कर लिये, जैसे – बच्चा गोद दे देना, पत्नी पर चरित्र का आरोप लगाकर निकाल देना, तलाक दे देना, गर्भपात का सहारा लेना और यहाँ तक कि बच्चे को अपनी संतान मानने से साफ मना कर देना। इन निजी तरीकों के अलावा रिकॉर्ड में हेराफेरी करने, हाईकोर्ट की शरण में जाने और राजनैतिक तरीके से बचाव में दलीलें पेश करने के मामले भी सामने आ रहे हैं। किन्तु इन सब तरीकों को वे ही प्रतिनिधि अपना रहे हैं जो आर्थिक रूप से संपन्न हैं, उच्च् पद पर हैं या गाँव के प्रभुत्वशाली लोगों की कठपुतली बनकर काम कर रहे हैं।

जहाँ सरकार ने जनसंख्या कम करने के लिए इन प्रतिनिधियों को मोहरा बनाया, वहीं सरकार का तर्क है कि गाँव के पंच या सरपंच ग्रामीणों के लिए आदर्श

मॉडल होता है और जनसंख्या नियंत्रण में उसका योगदान होगा, तो पूरा गाँव उसे आदर्श मानते हुए जनसंख्या नियंत्रण के लिये भूमिका निभाएगा। इस बात से नाराज होशंगाबाद के सरपंच श्री वीरूलाल अहिरवार कहते हैं कि "जिस तरह हम गाँव के लिए आदर्श व्यक्ति हो सकते हैं, उसी तरह विधायक और सांसद क्यों नहीं? उन पर कानून लागू न करने के पीछे सरकार की मंशा साफ नजर आती है। एक तरफ तो सरकारी कानून लागू न कर बड़े लोगों को संरक्षण दे रही है तो दूसरी तरफ आदिवासियों पर कानून लागू कर हमें सत्ता से दूर रखने की चाल चल रही है, अगर यही आलम रहा तो आने वाले समय में दलित, आदिवासी और महिला प्रतिनिधि ढूंढ़ने से नहीं मिलेंगे।"

आजादी के पचास वर्षों के बावजूद आज भी ग्रामीण विकास के तमाम सरकारी नारों और प्रचार के बाद भी भारत के अधिकाँश ग्रामीण इलाके रोजगार, शिक्षा, स्वास्थ्य, पेयजल, खाद्य सुरक्षा, सड़क जैसी बुनियादी सुविधाओं से वंचित हैं। हर साल सैकड़ों की संख्या में ग्रामीण जन खासकर बच्चे भुखमरी, कुपोषण और स्वास्थ्य सुविधाएँ न मिलने से छोटी–मोटी बीमारियों के चलते मौत के मुँह में समा जाते हैं। वहीं मरने वालों का आँकड़ा हर वर्ष बढ़ता ही जा रहा है। इस अभाव में जीवन जी रहे ग्रामीणों के सामने यह खौफ बना रहता है कि कुल संतान में से कितनी संतान जीवित और स्वस्थ्य बचेगी, जो उसके बुढ़ापे का सहारा बन सके।

(नीति दीवान)

●●●

# महिला सरपंचों पर हो रहें हैं अत्याचार*

**महिला सरपंच उस पंचायत का प्रतिनिधित्व करती हैं, जो लोकतंत्र की पहली सीढ़ी है**

म.प्र. में पिछले छमाही के दौरान करीब एक हजार महिला पंचायत प्रतिनिधियों के साथ मारपीट, प्रताड़ना और अपमान के मामले सामने आए, लेकिन इससे कहीं अधिक संख्या में महिला जनप्रतिनिधि ऐसी हैं जो अपना अपमान उजागर नहीं होने देती और तो और महिला सरपंचों को उनके अधिकारों से भी महरूम रखा जाता है। गणतंत्र दिवस जैसे राष्ट्रीय पर्व पर उन्हें झण्डावन्दन तक नहीं करने दिया जाता है।

फिर एक महिला सरपंच को प्रताड़ित किया गया। घटना किसी अविकसित पिछड़े अथवा अर्धविकसित प्रान्त की नहीं बल्कि सबसे तेज प्रगति का खिताब पाने वाले मध्यप्रदेश की है। उस मध्यप्रदेश की जहाँ देश में सबसे पहले पंचायती राज व्यवस्था लागू कर महिला सशक्तिकरण की दिशा में उल्लेखनीय पहल की गई थी।

प्रदेश के शिवपुरी जिले में एक आदिवासी महिला सरपंच की सरेआम मारपीट कर उसे अपमानित किया गया। इस सरपंच का अपराध यह था कि उसने दबंगों के आदेश को मानने से इनकार कर दिया था। शिवपुरी जिले के सतनापाड़ा कला गाँव की सरपंच तुलसी बाई ने आदिवासी होकर गाँव के तथाकथित बड़े लोगों के सामने मुँह खोलने की हिम्मत की थी। इस महिला सरपंच की पिटाई भी किसी बाहरी व्यक्ति ने नहीं बल्कि ग्राम पंचायत के उन पंचों ने की जिनमें परमेश्वर का वास माना जाता है। तुलसी बाई बताती है कि दो पंच अपने चार अन्य साथियों के साथ उसके घर आए और उससे पाँच हजार रुपये और एक बोरी गेहूँ की माँग करने लगे, इनकार करने पर उसे घसीटते हुए घर से बाहर लाया गया और सरेआम उसकी पिटाई की गई। ये सभी व्यक्ति ठाकुर जाति के हैं, जिनका गाँव में खासा दबदबा है। हालाँकि तुलसी बाई ने पुलिस में घटना की रिपोर्ट लिखवा दी है, लेकिन अब वह इतनी डर गई है कि सरपंची छोड़ने का विचार कर रही है।

यह पहला मामला नहीं है, जब अधिकार संपन्न किसी महिला सरपंच के साथ इस तरह की घटना हुई है, बल्कि प्रदेश में लगभग हर दिन कोई ना कोई महिला पंच या सरपंच पुरुष प्रधान समाज की प्रताड़ना का शिकार बनती है। सागर जिले के केरनवा ग्राम पंचायत की सरपंच संतोषरानी तो आज भी उस दिन को

---

* नवभारत में प्रकाशित

कोस रही है जब उसने घर–परिवार विशेष रूप से ससुर के दबाव में आकर सरपंच का चुनाव लड़ने का फैसला किया था। गाँव के तथाकथित दबंगों को उसका सरपंच बनना कभी भी रास नहीं आया, लिहाजा चुनाव को दौरान यहाँ हिंसा से निपटने के लिए पुलिस की देखरेख में मतदान हुए। यही नहीं चुनावी रंजिश के चलते गाँव के हुई हत्या में लिए उसके पति को गिरफ्तार कर लिया गया। अब संतोष रानी अपने पति के बरी होने की आस लगाए बैठी हैं। वह केवल नाममात्र की ही सरपंच है। दबंगों के खौफ से संतोषरानी गाँव के बाहर खेत के बने मकान में रहती हैं।

सिवनी जिले की डुगरिया गाँव की ग्रेजुएट सरपंच सईजा उईके को भी आए दिन गाँव के बड़े लोगों के विरोध का सामना करना पड़ता है। दबंग सरपंच मानने के इनकार करते हैं। यहीं नहीं सरेआम शराब पीकर, गाली–गलौच, अपशब्दों का प्रयोग करना वो अपना अधिकार समझते हैं। अधिकारियों से शिकायत करने पर भी कोई कार्रवाई नहीं होती है। आष्टा की एक अन्य महिला सरपंच को अपने बेटे की बरात निकालने से इसलिए वंचित रहना पड़ा क्योंकि वह दलित थी। छतरपुर जिले के महोईकला गाँव में तो अराजकता की सारी हदें पार करते हुए महिला सरपंच इंदिरा कुशवाह के साथ पहले तो कुछ लोगों ने जमकर मारपीट की और फिर उसे निर्वस्त्र कर गाँव भर में घुमाया गया। गाँव में दो गुटों के बीच वर्षों से चली आ रही रंजिश का खामियाजा पिछड़े वर्ग की इस महिला सरपंच को भुगतना पड़ा। अब भी इंदिरा इस सदमें से उबर नहीं पाई हैं।

म.प्र. में पिछले छमाही के दौरान करीब एक हजार महिला पंचायत प्रतिनिधियों के साथ मारपीट, प्रताड़ना और अपमान के मामले सामने आए, लेकिन इससे कहीं अधिक संख्या में महिला जनप्रतिनिधि ऐसी हैं जो अपना अपमान उजागर नहीं होने देती और तो और महिला सरपंचों को उनके अधिकारों से भी महरूम रखा जाता है। गणतंत्र दिवस जैसे राष्ट्रीय पर्व पर उन्हें झण्डावन्दन तक नहीं करने दिया जाता है। बात मात्र किसी महिला की प्रताड़ना/अपमान अथवा तिरस्कार की नहीं है। विचारणीय तथ्य यह है कि वह महिला सरपंच उस पंचायत का प्रतिनिधित्व करती है, जो लोकतंत्र की पहली सीढ़ी है। किसी सरपंच का अपमान केवल उसका अपमान ना होकर गाँधीजी के स्वप्न का अपमान है, जो उन्होंने पंचायती राज के जरिए देखा था।

**(वीणा सबलोक पाठक)**

●●●

# अधिकारविहीन दलित समाज*

**प्रदेश में दलित महिला सरपंचों के तिरस्कार को शर्मनाक बता रही हैं वीणा**

भारत में भले ही स्वतंत्रता के बाद महिलाओं और दलितों के उत्थान के नारे लगाए जा रहे हों। दर्जनों कानून बनाकर उनके सशक्तिकरण का ढोल पीटा जा रहा हो, लेकिन व्यावहारिक धरातल में ये उत्थान कहीं दिखाई नहीं देते। आज भी ऐसे ढेरों उदाहरण हैं, जब महिला और दलित सरपंचों को समाज में समुचित स्थान मिलना तो दूर, उन्हें उनके वैधानिक अधिकारों से भी वंचित रखा जा रहा है। गणतंत्र दिवस जैसे राष्ट्रीय त्यौहार पर भी उन्हें झण्डावन्दन तक करने नहीं दिया जाता। गाँधीजी की परिकल्पना के अनुरूप म.प्र. में पंचायत राज व्यवस्था को लागू हुए 12 वर्ष से भी अधिक का समय बीत चुका है। इस अवधि के दौरान प्रदेश में 125 से ज्यादा ऐसी घटनाएँ हुई हैं, जहाँ दलितों और सरपंचों को झण्डा फहराने के अधिकार से महरूम कर दिया गया, यही नहीं इनके साथ मारपीट कर उन्हें तरह–तरह से अपमानित भी किया गया।

ऐसी ही एक घटना प्रदेश के छतरपुर जिले के मऊखेड़ा गाँव में गणतंत्र दिवस समारोह के दौरान हुई। गाँव के सरपंच करोड़ा का दलित होना ही उसका कुसूर बन गया। पहली बार सरपंच बने करोड़ा ने 26 जनवरी के दिन अत्यंत उत्साह के साथ गाँव के समारोह में शिरकत की। जब करोड़ा ने झण्डावन्दन का प्रयास किया तो गाँव के ठाकुरों ने उनके साथ अभद्रतापूर्ण व्यवहार कर उन्हें ऐसा करने से रोका। करोड़ा द्वारा विरोध करने पर इस दलित सरपंच के साथ जमकर मारपीट की गई। घटना ने जब तूल पकड़ा तो प्रशासन भी सचेत हुआ और बाद में कुछ ठाकुरों के खिलाफ पुलिस ने प्रकरण कायम कर उन्हें गिरफ्तार किया। यह कोई पहला मामला नहीं है, जब कानूनी तौर पर अधिकार संपन्न दलित सरपंचों को इस तरह के अपमान का सामना करना पड़ा हो। पिछले वर्ष सागर जिले के गाँव की दलित महिला को झण्डावंदन से वंचित करते हुए यह कार्य गाँव के उप सरपंच ने किया। ऐसे भी उदाहरण देखे गए, जब दलित महिला सरपंचों को दोहरे तिरस्कार का सामना करना पड़ा। धार जिले के नालछा ग्राम की पंचायत की दलित पूर्व सरपंच शांतिबाई को भी गाँव के साथ–साथ परिवार वालों के भी विरोध का सामना करना पड़ा। गाँव के तथाकथित बड़े लोगों ने तमाम तरह के दबाव बनाकर शांति को झण्डावंदन से रोकने की कोशिश की, जिसमें उनके दूर के रिश्तेदार भी

---

*** दैनिक जागरण में प्रकाशित**

शामिल हो गए, यह अलग बात है कि अत्यंत उत्साह के साथ विरोधों–अवरोधों को झेलते हुए शांति बाई ने आखिर गणतंत्र दिवस समारोह में झण्डा फहराने का गौरव प्राप्त किया। गुना जिले के चन्दरखेड़ा पंचायत की पूर्व सरपंच गुदियाबाई भी इस तरह के भेदभाव की शिकार हुई। दलित होने की वजह से गाँव के प्रभावशाली लोगों ने उसे ध्वजारोहण नहीं करने दिया और गुदियाबाई का अरमान दिल में ही रह गया। ऐसा नहीं है कि महिलाओं को केवल म.प्र. में इस तरह के तिरष्कृत व्यवहार का सामना करना पड़ रहा है। अन्य प्रदेश के दलित प्रतिनिधि भी इस तरह के व्यवहार के शिकार हो रहे हैं। महाराष्ट्र में ऐसी घटनाओं को रोकने के लिए ही सरकार ने बकायदा एक आदेश जारी कर गणतंत्र दिवस समारोह में महिला सरपंचों द्वारा झण्डावंदन किए जाने को अनिवार्य घोषित किया था, लेकिन इस तरह के आदेश केवल सरकारी फाइलों में ही सीमित होकर रह जाते हैं।

इस साल संपन्न हुए गणतंत्र दिवस समारोह में महाराष्ट्र के नासिक जिले के करवाड़ी गाँव की दलित महिला सरपंच सुनीता बाबूराव घोड़पोड़े इस भेदभाव की शिकार हुई। इस महिला सरपंच के अधिकार को छीनते हुए ग्राम पंचायत में झण्डावंदन ऊँची जाति के माने जाने वाले एक अन्य व्यक्ति ने किया। अत्यन्त संपन्न और समृद्ध ही नहीं, बल्कि सर्वाधिक अनुसूचित जाति की जनसंख्या वाले पंजाब राज्य में भी इस तरह की घटनाएँ हो रही हैं। जालंधर जिले के नागल गाँव की सरपंच कमलेश द्वारा गणतंत्र दिवस समारोह में ध्वजरोहण करना, गाँव के तथाकथित बड़े लोगों को इतना नागवार गुजरा कि उन्होंने समारोह का भी बायकाट कर दिया। बिहार जैसे पिछड़े अविकसित प्रदेश में भी इस तरह की घटनाएँ आम हैं। मात्र कानूनों, प्रावधानों अथवा सरकारी आदेशों, निर्देशों के माध्यम से ही इन घटनाओं पर अंकुश नहीं लगाया जा सकता है। जरूरत है, सामाजिक सोच बदलने की। भारत जैसे लोकतांत्रिक देश में यदि कोई व्यक्ति दलित अथवा महिला होने के कारण भेदभाव का शिकार हो रहा है तो यह वास्तव में शर्मनाक है। यह भेदभाव हमारी 59 साल की आजादी पर ही प्रश्नचिन्ह लगा देता है।

**(वीणा सबलोक पाठक)**

•••

# महिला सशक्तिकरण का मजाक*

"श्यामा और नगर पंचायत उपाध्यक्ष ओंकार पड़ियार के बीच सत्ता–शक्ति को लेकर शुरू हुआ विवाद इतना बढ़ा कि ओंकार पड़ियार ने सरेआम न सिर्फ श्यामा तोमर से गाली–गलौच की बल्कि उसके गाल पर चाँटा भी रसीद कर दिया।"

देश भर में पंचायतों और नगरीय निकायों में महिलाओं के लिए सबसे पहले आरक्षण व्यवस्था लागू कर म.प्र. सरकार ने खूब वाहवाही बटोरी। लेकिन महिलाओं पर हो रहे अत्याचार और शोषण से महिलाएँ आज महफूज नहीं है। वैधानिक रूप से अधिकार संपन्न महिला प्रतिनिधियों को भी सरेआम अपमानित किया जा रहा है

ऐसा ही हुआ राजधानी भोपाल से बमुश्किल डेढ़ सौ कि.मी. की दूरी पर बसे बागली विधानसभा क्षेत्र में जो भाजपा का गढ़ माना जाता है। महिला आरक्षण के चलते पहली बार यहाँ नगर पंचायत अध्यक्ष पद पर श्यामा तोमर नामक महिला निर्वाचित हुई। यूँ तो वे कांग्रेस की कार्यकर्ता हैं, लेकिन पार्टी द्वारा टिकट नहीं मिलने के कारण श्यामा ने निर्दलीय चुनाव लड़कर प्रचण्ड बहुमत हासिल किया। चुनाव जीतने के साथ ही श्यामा और नगर पंचायत उपाध्यक्ष ओंकार पड़ियार के बीच सत्ता शक्ति को लेकर शुरू हुआ विवाद इतना बढ़ा कि ओंकार पड़ियार ने सरेआम न सिर्फ श्यामा तोमर से गाली–गलौच की बल्कि उसके गाल पर चाँटा भी रसीद कर दिया।

घटना 9 जून की है। इसके पहले 7 जून को भी श्यामा और ओंकार के बीच किसी बात को लेकर कहासुनी हुई थी, जिसकी शिकायत पुलिस में भी दर्ज कराई गई थी। घटना वाले दिन श्यामा बाजार में लोगों से बातचीत कर रही थी कि अचानक ओंकार पड़ियार भी वहाँ अपने साथियों के साथ पहुँचा और पुराने विवाद को लेकर श्यामा के साथ गाली–गलौच करने लगा। दोनों ही पक्षों ने एक दूसरें के खिलाफ खुलकर अभद्र भाषा का प्रयोग किया, लेकिन हद तो तब हो गई जब करीब 60 साल के ओंकार ने बातचीत की सीमा लाँघते हुए जोर का एक थप्पड़ श्यामा को जड़ दिया। उसके साथ झूमा–झटकी करने लगा। श्यामा कुछ समझ पाती इसके पहले ही उसके कपड़े फट गए, इस बीच मूकदर्शक बने लोगों ने आकर बीच बचाव किया, कुछ सम्भलने के बाद श्यामा हिम्मत करके रिपोर्ट लिखाने थाने पहुँची। लेकिन यहाँ भी उसकी सुनवाई नहीं हुई निराश होकर श्यामा एसडीएम

* डेमोक्रेटिक वर्ल्ड में प्रकाशित

श्री खाण्डेकर के पास अपनी फरियाद लेकर गई उस दिन जिला कलेक्टर और संभागायुक्त भी एसडीएम ऑफिस में मौजूद थे, लेकिन इन वरिष्ठ और अनुभवी अधिकारियों ने इस महिला को न्याय दिलाना तो दूर, उससे मिलना भी जरूरी नहीं समझा हाँ, पुलिस में रिपोर्ट लिखाने की ताकीद जरूर दी। श्यामा ने जब जबर्दस्ती इन अधिकारियों से मिलने का प्रयास किया, तो वहाँ खडे गनमैन ने भी उससे हाथापाई की। श्यामा ने वापस थाने पहुँच कर ओंकार के खिलाफ रिपोर्ट दर्ज कराई। वरिष्ठ अधिकारियों के कहने पर इस बार पुलिस ने रिपोर्ट लिख तो ली, लेकिन ऐसी धाराएँ लगाई, जिसमें आसानी से जमानत मिल जाती है। श्यामा की रिपोर्ट लिखाने के पहले ही ओंकार ने उसके खिलाफ गाली–गलौच और बेइज्जत करने की रिपोर्ट लिखवा दी थी। श्यामा को जहाँ अपनी रिपोर्ट लिखाने के लिए वरिष्ठ अधिकारियों से गुजारिश करनी पड़ी, वही ओंकार की सुनवाई बिना किसी जहमत के हो गई। नगर पंचायत के सीएमओ महेश छावरी भी इस घटना की पुष्टि करते हैं, लेकिन 'मै वहाँ मौजूद नहीं था' कहकर पल्ला झाड़ लेते हैं। और तो और प्रशासन का रवैया भी इस मामले में उदासीन और असंवेदनशील बना हुआ है। कलेक्टर और कमीश्नर ने अब तक इस घटना में हस्तक्षेप नहीं किया है वहीं एसडीएम 'मेरे पास कोई लिखित शिकायत नहीं आई' कहकर अपनी जिम्मेदारी से मुक्त हो रहें हैं। अधिक कुरेदने पर वे यही कहते हैं कि यह दोनों पार्टियों के बीच का आपसी विवाद है। हाँ,, उन्हें इस बात का भी अंदेशा है कि आने वाले समय में यह घटना बड़ा रूप ले लेगी ।

इस तमाम घटनाक्रम ने श्यामा को हिलाकर रख दिया है। आँख में आँसू भरकर बार–बार वह यही बात दोहराती है कि "मैं लोगों को कैसे मुँह दिखाऊँगी। मुख्य आरोपी दिलेरी से कहता है कि अभी तो केवल कपड़े ही फाड़े हैं, मेरे कहने पर नहीं चली तो और भी भुगतने के लिए तैयार रहे।"

**(वीणा सबलोक पाठक)**

•••

# आदर्श उतर रहे हैं जमीं पर*

सामाजिक संरचनाओं की अपनी विशेषताएँ होती हैं और महिलाओं के आरक्षण के पश्चात् जो संदेह व्यक्त किए जा रहे थे, उन्हें महिलाएँ खत्म करते जा रही हैं। एक अनोखा उदाहरण इस बात की गवाही देता है कि महिलाओं में जागरूकता किस सीमा तक पहुँच गई है। आज मध्यप्रदेश में तीन पंचायतें ऐसी हैं जिनमें पंच और सरपंच सभी महिलाएँ हैं। आँकड़ों की जुबानी कहने से यह आँकड़ा छोटा हो सकता है, लेकिन व्यवस्था में बदलाव की यह आहट भर है। वैसे भी हमारे देश के वैविध्यपूर्ण सामाजिक ताने–बाने ने आँकड़ों को सैकड़ों बार झूठा साबित किया है।

जबलपुर जिले के मझौली विकासखण्ड की उमरिया ग्राम पंचायत ऐसी ही महिला प्रधान पंचायत है। और सबसे बड़ी बात कि वे सभी निर्विरोध सत्ता में आई हैं। सरकार ने भी पंचायत को दो लाख रुपये के पुरस्कार से नवाजने का निर्णय लिया है। चौके–चूल्हे के साथ–साथ पंचायतों का प्रबंधन और कुशल प्रबंधन प्रभावित करने वाला है। यह न केवल पुरुषों के लिए चुनौती है वरन् शहरी कामकाजी महिलाओं के लिए भी प्रेरणादायी है। पंचायत की सरपंच इद्रमणि बताती हैं कि चूँकि हम निर्विरोध चुने गए हैं इसलिए विकास कार्यों में आम राय तत्काल कायम हो जाती है। दस लाख के विभिन्न कार्यों को अंजाम दे चुकी इद्रमणी 82 लोगों को सुरक्षा पेंशन योजना का लाभ दिलवा चुकी हैं। जलाभिषेक योजना के तहत तीन तालाबों का जीर्णोद्धार, खंदिया टोला से उमरिया तक सड़क, गोबरहाई व रखैला पहाड़ियों पर पौधों की रक्षा का संकल्प लेते हुए कटाई पर पूर्ण प्रतिबंध, पाँच स्व सहायता समूहों का गठन कर स्व–रोजगार को प्रोत्साहन, 147 गरीबी रेखा से नीचे के लोगों के घरों में शौचालयों का निर्माण कार्य की नींव रखना आदि कार्यों को अंजाम देने वाली महिला पंचायत महिला सशक्तिकरण की अद्‌भुत मिसाल पेश कर रही है।

भूदान आंदोलन के प्रणेता आचार्य विनोबा भावे ने एक स्थान पर लिखा है कि पंचायत वास्तव में पाँच सदस्यों की एक समिति है – प्रेम, निडरता, ज्ञान, उद्योग और स्वच्छता। आचार्य की इन बातों को एक हद तक इन ग्रामीण महिलाओं ने अपनाकर साबित भी कर दिखाया है। आत्मनिर्भर पंचायतों से जितना कार्य हो सकता है वह और कोई कितना भी प्रयास कर ले, हो नहीं सकता है।

पंचायती राज के चलते ही छतरपुर जिले के भारतपुरा गाँव की मीना बंसल, बेरखेड़ी गाँव की जनकनंदिनी, मीरा दुबे, मंजु, सिंगरावनखुर्द की सियारानी, अहिल्याबाई, सागर जिले के खेरूआ की कमलारानी, सीधी जिले के बड़ोखर की

* योजना में प्रकाशित

उर्मिलाबाई ने गरीबी उन्मूलन परियोजनाओं के चलते विभिन्न विकास कार्यों को अंजाम दिया है और समाज की मुख्यधारा में स्वयं को स्थापित करने का कार्य किया है। अब उनकी पूछ–परख भी समाज में बढ़ गई है।

छतरपुर जिले के सिंगरावनखुर्द एक समय पेयजल की समस्या से लड़ रहा था और कई बार पानी के लिए युद्ध जैसी स्थितियाँ निर्मित हो जाती थी, लेकिन यहाँ की महिलाओं ने नल–जल योजना के जरिए सभी मोहल्लों में शुद्ध पानी की कमी को पूरा किया हैं। उन्होंने जागृति पेयजल स्वच्छता समूह गठित कर प्रत्येक परिवार से 2 रुपये लेकर 16,192 रुपये इकट्ठा किए और डी.पी.आई.पी. के तकनीकी सहयोग से 3 लाख 23 हजार 828 रुपये की योजना बनाई जिनमें एक कुआँ और 5–5 हजार लीटर क्षमता वाले जल संग्रहण टैंकों की स्थापना की गई। कुएँ की खुदाई भी श्रमदान के माध्यम से हुई। समूह की अध्यक्ष आशाबाई बताती हैं कि निर्माण कार्य में गुणवत्ता पर विशेष जोर दिया गया है और पेयजल शुद्धता के लिए क्लोरीनेटर पम्प के साथ लगाया गया है जिसमें 15–15 दिनों के अंतर से ब्लीचिंग पावडर डाला जाता है।

इसी तरह जमुनिया गोंड की शारदा यादव भी गाँव के महिला समूह का नेतृत्व करती हैं। इन समूहों द्वारा भैंसें खरीदी गई हैं और डेयरी का कार्य इसकी सहायता से किया जाता है। सबसे बड़ा बदलाव इनमें यह है कि यहाँ कि अधिकाँश महिलाएँ बीड़ी बनाने का कार्य करती थी और उनके पास इस जहर को बनाना छोड़ने का कोई विकल्प नहीं था, लेकिन जैसे ही विकल्प मिले उन्होंने उसे तुरंत त्याग दिया। आगे की योजनाओं में जमूनिया गोंड में एक बल्क मिल्क कूलर लगाए जाने की है ताकि दूध का अधिक से अधिक देर तक व मात्रा में संग्रहण हो सके। यहाँ पर अलग–अलग समूह कार्य कर रहे हैं जिनमें प्रमुख हैं, सरस्वती समूह, महारानी समूह, आरती समूह, जय लक्ष्मी समूह आदि।

इन उपलब्धियों से सामाजिक परिवर्तन की झलक साफ दिखाई देने लगी है। अधिकाँश महिलाएँ अपने परिवेश तथा समाज में सुधार और आस–पास की समस्याओं को हल करने में उतनी ही दिलचस्पी ले रही हैं, जितनी कि वे अपने परिवार में लेती हैं। कुल मिलाकर आज उन लोगों को भी अपनी राय बदलना पड़ रहा है जिनमें उन्हें महिलाओं की पंचायतों में भागीदारी पर गहरा संदेह था। अब तो यहाँ तक कहा जाने लगा है कि पंचायत जैसी संस्थाओं में महिलाएँ पुरुष की तुलना में अधिक प्रभावी भूमिका निभा सकती हैं। अभी तो इसे शुरुआत ही कहेंगे और शुरुआत में ही महिलाओं द्वारा किये गए ये प्रयास निश्चय ही देश के ग्रामीण राजनैतिक भविष्य की ईबारत बदलने के लिए पर्याप्त हैं।

(लोकेन्द्र सिंह कोट)

•••

# फून्दीबाई सरपंच कहती है आधा आसमां हमारा*

नाम है फून्दीबाई और सहजता से चौंकने वाल बात है कि कौन फून्दीबाई..? फून्दीबाई नए भारत के सृजनकारों में से एक हैं। अब तो आपका प्रश्न और भी सूर्ख होगा कि फून्दीबाई और सृजनकार..... कौन, कैसे....? फून्दीबाई को समझने से पहले आइये थोड़े से पूर्वाग्रहों से दूर हो लें। यह आवश्यक नहीं है कि सृजन करने का लक्ष्य बहुत बड़ा हो या कोई महान कृति, कार्य हो। प्रत्येक सृजन जो जीवन को उल्लास दे, जीने का ढंग दे, सहारा दे वह भी श्रेष्ठ सृजन है। यदि सृजन लोकोपयोगी है तो और भी बेहतर। जो सृजन समाज व राष्ट्र को उन्नति के मार्ग पर पहुँचाये वह सर्वश्रेष्ठ सृजन है।

बस हम इसी सरल से सृजन की बात कर रहे हैं और आदिवासी फून्दीबाई ऐसी ही प्रतिबद्ध महिला सरपंच हैं जो उच्च जाति के दबदबे वाले क्षेत्र में साहस के साथ न केवल कार्य कर रही हैं वरन् अपने क्षेत्र में स्कूल वाली बाई के नाम से भी विख्यात हो गई हैं। हम बहुत बड़े बदलावों की उम्मीद बगैर धैर्य के करने के लिए आदी हो चुके हैं और ऐसे में छोटे बदलाव हमारे लिए अक्सर तुच्छ होते हैं, लेकिन हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि बड़े बदलावों के पीछे इन्ही छोटे–छोटे प्रयासों का हाथ होता है। सोचिए अकेले गाँधी से कोई आशय नहीं निकलता है, पूरा राष्ट्र का सहयोग मिलकर ही गाँधी को पूर्ण परिभाषित करता है। फून्दीबाई हमारे उसी बदलाव की भूमिका को अपने ढंग से रच रही हैं। सारंगी जिला झाबुआ की सरपंच बनी फून्दीबाई खुद पढ़ी नहीं होने और उससे होने वाली हानियों से परिचित होकर उन्होंने सर्वप्रथम शिक्षा को ही अपने एजेंडे में लिया और विशेषकर बालिका शिक्षा को प्राथमिकता दी। जब हम उनकी पंचायत में पहुँचे तो पूरे तीन वर्ष उनके कार्यकाल को हो चुके थे और पहला प्रश्न पूछते ही उन्होंने अपनी भीली बोली में जवाब दिया कि 'वगर भणेली सोरी, लाकड़ा नी लोगई बणी जावे' मतलब बगैर पढ़ी–लिखी लड़की एक काठ (लकड़ी) की पुतली बनी रहती है। उनकी अपनी फिलॉसफी है कि एक लड़की के पढ़ने से तीन घर सुधर जाते हैं। एक तो उसका मायका, दूसरा उसका खुद का घर यानी ससुराल और तीसरा उसकी होने वाली लड़की का घर।

उन्होंने अपनी पंचायत में ऐसी लड़कियों की सूची बनवाई जो स्कूल नहीं जा रही थी और फिर उनके माता–पिता को प्रेरित करने का अभियान चलाते हुए उन्हें स्कूल जाने के लिए तैयार कर ही लिया। उन्हे समय जरूर लगा परंतु उनकी कोशिश में रंग भर चुके थे। आज सारंगी में बालिकाओं ने हायर सेकेण्डरी की कक्षाओं में कदम रख दिया है और इस वर्ष करीब 22 बालिकाओं को स्कूल जाने के

---

* राज्य की नई दुनिया में प्रकाशित

लिए शासकीय योजनाओं के चलते साइकिल मिल चुकी है। फून्दीबाई के हौसले और प्रयास का परिणाम तब निकलता हुआ दिखाई देता है कि जब पंचायत की बालिका से हम पूछते हैं कि वह क्या बनना चाहती है तो दबंगता से कहती हैं, डॉक्टर...!

पंचायत के सभी स्कूलों में फून्दीबाई स्वयं भ्रमण करती हैं और मध्यान्ह भोजन की गुणवत्ता से लेकर शिक्षा की गुणवत्ता जैसे पहलुओं को छूती हैं। जब हम उनसे मिलने पहुँचे थे तो वे स्वयं एक स्थान पर सफाई कर रही थीं और पुछने पर बताती हैं कि वानिकी विकास के लिए हमने पंचायत से प्रयास किए हैं और पौंधों के बचाव के लिए कोई और नहीं मिला तो वे स्वयं ही कार्य में लग गई। उनके चेहरे पर पसीने की बूँदों में सूर्य की किरणों से टकराकर इन्द्रधनुष के सात रंग दिखाई दे रहे थे। ये वही रंग हैं जो उनके अरमानों में हैं और इसका पूर्वाभास हमें हो गया। अनायास गाँधी की 'नई तालीम' भी याद आ गई जिसमें उन्होंने व्यवहारिक ज्ञान की शिक्षा के बारे में कहा है। अपनी तीन लड़कियों को भरपूर शिक्षा दे रही फून्दीबाई स्वयं भी उन्हीं से अपना अक्षर ज्ञान बढ़ा रही हैं। कम उम्र में विवाह के सामाजिक दबाव के बावजूद वे अपनी लड़कियों को उच्च शिक्षा दिलवाने का ख्वाब रखती हैं। कम उम्र में विवाह की इस कुरीति के साथ–साथ वधु–मूल्य की परम्परा को भी कम करवाने के प्रयास में समाज से सीधे–सीधे लड़ रही है। वधु–मूल्य वास्तव में भील आदिवासी परम्परा में लड़के वालों की और से लड़की पक्ष को मूल्य चुकाने को कहा जाता है। यह सामान्य परम्परा से विपरीत है।

जीवन को जीना और जीवन को ढोना एक सिक्के के दो पहलू हैं। प्रत्येक जीव अपना अस्तित्व इन्हीं में खोज लेता है। सृजनशीलता का निरंतर प्रवाह जीवन को जीने के लिए प्रेरित करता है वहीं, 'जैसा है वैसा चलने देने' वाला जीवन सृजनशीलता के अभाव को प्रकट करता है। कई बार परिस्थितियाँ ऐसी रहती हैं जो सृजनशीलता से विलग ही कर देती हैं वहाँ जीवन को ढोना ही महत्वपूर्ण कार्य समझा जाता है। एक ओर स्थिति होती है जीवन की, जहाँ सृजन तो होता है परंतु विसंगतियों का सृजन। देव व असुरों के मध्य विभेद का एक यह बिन्दु भी प्रमुख रहा है। एक सृजन सद्कार्यों के लिए व दूसंरे का विघ्वंस के लिए। यूँ तो जड़ या निर्जीव वस्तुएँ ही अच्छी रहती है जो सृजन तो नहीं करती हैं परंतु वे सृजन का माध्यम जरूर बन जाती हैं। फून्दीबाई एक ऐसी ही प्रतीक हैं। तमाम विसंगतियों से निकलकर सर्वश्रेष्ठ सृजन कर देना ही हमारी छुपी महानता को प्रकट करता है। यही हमारे आदर्श के रूप में स्थापित भी होना चाहिये। आदर्शों की कमी का संकट आज हमारे चारों ओर विद्यमान है, लेकिन साथ ही साथ कई आदर्श हमारे चारों ओर स्थापित भी तो हो रहे हैं, बस देर इस बात की है कि उन्हे हमें पहचानना है और अपनाना है।

(लोकेन्द्र सिंह कोट)

•••

# पंचायतों में महिलाओं की अवमानना*

लोकतंत्र की सबसे छोटी लेकिन महत्वपूर्ण इकाई हैं पंचायत। यहीं से प्रारम्भ होती है लोकतंत्र की पहली सीढ़ी। प्राचीन समय से लेकर महात्मा गाँधी के समय तक पंचायत की बात प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष दोनों ढंग से होती रही है। वर्ष 1955 में पंचायतों की जो व्यवस्था की गई, वह कई कारणों से असफल सिद्ध हुई अंततः बड़े अंतराल के बाद वर्ष 1993 में 73वें एवं 74वें संशोधन पर अभी तक हाशिए पर रही महिलाओं को इसमें 33 प्रतिशत आरक्षण दिया गया।

इस उल्लेखनीय आरक्षण का परिणाम यह रहा कि देश भर की पंचायतों मे लगभग 1 लाख 63 हजार महिलाएँ विभिन्न पदों पर नियुक्त हुई तथा सरपंच के तौर पर लगभग 10 हजार महिलाएँ आगे आई। एक पुरुष प्रधान समाज में इतना बड़ा कदम और फिर अच्छा परिणाम एकबारगी तो खुश होने के लिये पर्याप्त था लेकिन, बदलाव की इस प्रक्रिया में सिक्के का दूसरा पहलू भी विद्यमान रहा, कागजों पर आँकड़े और धरातल का व्यवहारिक सत्य, दोनों में ज़मीन–आसमान का अंतर पाया गया।

निर्वाचित महिला जनप्रतिधियों के पुरुष रिश्तेदार ही अधिकाँश जगहों पर शासन करते रहे और महिलाओं को वहीं पर्दे के पीछे रखा गया। ताजा अध्ययन बताते हैं कि लगभग आधे से ज्यादा जगहों पर ऐसा खुले तौर पर हो रहा है। और–तो–और ग्रामीण समाज ने भी इसे मौन स्वीकृति दे दी है। इन्ही सब कार्यकलापों के चलते एक तथ्य और उभर कर आया कि महिला जनप्रतिनिधियों के कंधों पर बंदूकें रख कर उनके पुरुष रिश्तेदारों ने भ्रष्टाचार प्रारंभ कर दिया है। वहीं दूसरी ओर कहने–सुनने–पढ़ने में यह आया कि कई महिला जनप्रतिनिधियों के विरुद्ध भी भ्रष्टाचार के मुद्दे चल रहे हैं।

यहाँ पर एक गंभीर भूल यह भी हो रही है कि पर्दे के पीछे रहने वाली एक निरक्षर ग्रामीण महिला को लोकतंत्र की इस निचली पाठशाला से यही सीखने को मिल रहा है कि पंचायत या सत्ता धन कमाने का एक स्रोत भर है। भविष्य में इसे मानसिकता बनते देर नहीं लगेगी, और हम फिर से पंचायती राज की असफलता का कारण और कहीं खोजने बैठेंगे। वास्तव में ग्रामीण महिलाओं की पंचायतों में भागीदारी को तो अपना लिया गया लेकिन, उनकी सामाजिक–आर्थिक स्थितियों को मूल में जाकर नहीं देखा गया। महिलाओं को एक पूर्व निर्धारित ढाँचे में फिट कर दिया गया, बगैर यह देखे कि क्या अनुकूल और क्या प्रतिकूल परिस्थितियाँ हैं। जबकि होना यह था कि इन ग्रामीण महिलाओं के ढाँचे में व्यवस्थाओं को फिट होना था। इसके पश्चात् कई शिकायतें जो हम कर पर रहे है, वे नहीं होती।

---

* राज्य की नई दुनिया में प्रकाशित

शिक्षा का ही उदाहरण लें। शिक्षा की कमी उनके आत्म–विकास और आत्म–सम्मान में सबसे अधिक बाधक रही है। यद्यपि पिछले पाँच दशकों में महिला साक्षरता कई गुना बढ़ी है फिर भी उनमें शिक्षा का स्तर निम्न है। इसके साथ ही यह भी तथ्य जुड़ जाता है कि सिर्फ साक्षर होने भर से ही महिलाएँ जागरूक हो जाएँगी, ऐसा नहीं माना जा सकता। साक्षर महिला जनप्रतिनिधियों को लेकर किये गये एक अध्ययन के अनुसार अभी भी वे 'महिला समस्या' को नहीं समझ पाई है, उनमें महिला विकास जैसा कोई चिंतन विद्यमान ही नहीं हैं।

ग्रामीण महिलाओं के संदर्भ में यह तथ्य भी चौंकाने वाला है कि लगभग पचपन से साठ प्रतिशत महिलाएँ घरेलू हिंसा का शिकार होती हैं। इसका सीधा–सादा अर्थ यही है कि महिलाएँ जहाँ एक ओर लड़के व लड़की में विभेद की मानसिकता के साथ तमाम पारिवारिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, सामाजिक, रीति–रिवाज निभाते हुए तमाम जिम्मेदारियाँ वहन करती हैं तो दूसरी ओर उन्हीं के घर में उन्हें दमन चक्र के रूप में अत्याचार झेलने पड़ते हैं। ऐसे में महिलाओं से आशा करना कि वे पंचायत के कार्यों एवं उनकी समस्याओं के लिए लड़े, तो यह सर्वथा बेमानी ही होगा।

इसे हम एक विडम्बना ही कहेंगे कि जहाँ हम महिला उत्थान और उनकी सत्ता में भागीदारी के लिए लड़ते रहे, वहीं उसी के समानान्तर पुरुष और महिलाओं के अनुपात में देशव्यापी गिरावट आती गई। 972 प्रति हजार पुरुष से घटकर यह स्थिति 934 प्रति हजार पुरुष तक पहुँच चुकी है। ऐसे में कभी–कभी लगता है कि दबाव के चलते सब कुछ अपना रहे हैं परन्तु वास्तव में मन से महिलाओं का आगे बढ़ना हम पचा नहीं पा रहे हैं। कुछ जागरूक महिला सरपंचों द्वारा लिये गए निर्णयों (चाहे वे कितने ही अच्छे क्यों न हो) पर सरेआम पुरुष साथियों द्वारा नहीं माना गया। कई स्थानों पर निर्वाचित महिलाओं को तरह–तरह से अपमानित किया जाना हमारी उसी पुरुष आधारित मानसिकता का परिचायक है।

वैसे देखा जाए तो ग्रामीण महिलाएँ जब अपने घरेलू कार्यों के साथ–साथ कृषि कार्यों को भी सही प्रबंधन कर निपटा लेती हैं तथा अपने बच्चों का भी पालन–पोषण कर लेती हैं तो ऐसी कुशल प्रबंधक को पंचायत का पोषण करने में कहाँ समस्या आ सकती है। वे अपने उद्देश्यों के प्रति अपने संस्कारों की वजह से अधिक प्रतिबद्ध, ईमानदार और उत्साही रहती हैं। जरूरत इस बात की है कि सम्पूर्ण व्यवस्था उनके पक्ष को लेकर पुनर्व्यवस्थित हो और पारिवारिक सहमति उसमें शामिल हो। हमें पंचायती राज में महिलाओं की भागीदारी के बारह–तेरह वर्षों के अनुभवों को महत्व देते हुए प्रत्येक पहलू की पुनर्व्यवस्था करना होगी।

(लोकेन्द्र सिंह कोट)

●●●



COMMUNITY HEALTH LIBRARY
DEV-100 ... P08

# 3 स्व – शासन

## काँटे साफ करती फूलबाई*

सागर जिला मुख्यालय से सात किलोमीटर पर एक कच्ची सड़क दायीं ओर जाती है। इस सड़क के दूसरे सिरे पर बसा है पथरिया हाट। गाँव में प्रवेश करते ही एक–दो मकान के बाद साधारण वेशभूषा में एक महिला हाथ में झाडू लिये सफाई करती नजर आयी। गाँव की सरपंच का पता पूछने पर उसने झेंपते हुए कहा कि वही सरपंच है। सीधी–सादी दिखने वाली इस दलित महिला सरपंच श्रीमती फूलबाई ने गाँव के दलितों को समानता और अधिकार दिलाने के साथ–साथ निर्माण कार्यों को भी अंजाम दिया है। पुलिस–प्रशासन और सामंतों की शोषणकारी प्रवृत्तियों पर नकेल कसकर उन्होंने जता दिया है कि नेतृत्व के लिए अमीर होना या बाहुबली होना ही जरूरी नहीं है। हिम्मत और आत्मविश्वास के बलबूते एक गरीब और दलित महिला भी नेतृत्व संभाल सकती है।

पचास फीसदी दलितों एवं आदिवासियों, 33 फीसदी पिछड़ों और 17 फीसदी ठाकुरों–ब्राह्मणों की आबादी वाले पथरिया हाट की आबादी लगभग 13 सौ की है। 73 वें संविधान संशोधन के बाद जब ग्राम पंचायतों का चुनाव हुआ तो पथरिया हाट पंचायत अनुसूचित जाति के लिए आरक्षित कर दी गयी। ऐसी स्थिति में गाँव का सवर्ण समुदाय मन मसोसकर रह गया। लेकिन सरपंच किशन अहिरवार जब सवर्णों के इशारों पर ही चलने लगा, तो सत्ता अप्रत्यक्षतः उन्हीं के हाथ आ गयी। कठपुतली सरपंच के कारण गाँव का विकास नहीं हो पाया।

दूसरी बार के पंचायत चुनाव में पथरिया हाट को सामान्य महिला सीट घोषित किया गया। इस चुनाव में दो सवर्ण महिलाएँ, पूर्व दलित सरपंच की पत्नी और फूलबाई भी उम्मीदवार बनीं। विकास के मुद्दे पर लड़े गये चुनाव में फूलबाई की जीत हुई, जबकि सरपंच बनने से पहले उनका राजनिति से कोई सरोकार नहीं था। गाँव के दबंगों को यह गँवारा नहीं हुआ कि कोई महिला गाँव का नेतृत्व करे और वह भी दलित। कुछ समय बाद कोषाध्यक्ष पद पर भी दलित समुदाय के विजय कुमार की जीत हुई, इससे सवर्णों की खीझ और बढ़ गयी।

---

* सहारा समय में प्रकाशित

एक मौके पर फूलबाई हैडपम्प लगवाने के सिलसिले में पति के साथ साइकिल से सागर स्थित लोक स्वास्थ्य अभियांत्रिकी कार्यालय गयी थी। इस बीच गाँव में उप सरपंच सुरेश घाषी और सचिव राजेश ने ग्रामसभा बुलवा ली और फर्जी तरीके से कोषाध्यक्ष को हटाने का प्रस्ताव पास कर दिया। गाँव के एक व्यक्ति ने सागर जाकर सरपंच को इसकी सूचना दे दी। सरपंच के पति ने मामले की नजाकत देखते हुए फूलबाई को ऑटो से गाँव भेज दिया, लेकिन रास्ते में उप सरपंच ने आठ–दस आदमियों के साथ साइकिल से घर लौट रहे सरपंच के पति को घेर लिया। वे लोग उनको ग्रामसभा के रजिस्टर पर सील लगाने और हस्ताक्षर करने के लिए बाध्य करने लगे। किसी तरह बचकर सरपंच पति घर पहुँचें। उधर उप सरपंच ने ट्यूबवेल लगवाने के नाम पर रात में ही ग्रामीणों से ग्रामसभा के रजिस्टर पर दस्तखत करवा लिये। अगले दिन फूलबाई ने उप सरपंच से इस मामले में पूछताछ की, तो उसने झिड़कते हुए कहा, "भाग जाओ यहाँ से। चमारपना मत दिखाओ।" इस अपमान से व्यथित फूलबाई ने उप सरपंच और सचिव के खिलाफ दलित थाने में रिपोर्ट लिखवा दी। गिरफ्तारी के भय से उप सरपंच और सचिव दोनो एक महीने तक गाँव से फरार रहे, पर अंततः गिरफ्तार कर लिये गये। जमानत पर छूटने के बाद दोनों के माफी माँगने पर सरपंच ने गाँव की शांति का खयाल रखते हुए मामला वापस ले लिया। तब से गाँव में न तो पानी भरने के लिए भेदभाव होता है और न स्कूल में बच्चों के साथ गलत व्यवहार होता है। दलितों को मंदिर या किसी भी सार्वजनिक समारोह में जाने की कोई मनाही नहीं है।

फूलबाई को इसके अलावा भी कई समस्याओं का सामना करना पड़ा। एक बार गाँव में बिजली नहीं थी तो उन्होंने स्कूली बच्चों के हिस्से का 40 किलो गेहूँ का दलिया पिसवाने के लिए अपने बेटे राकेश को सागर भेजा। रास्ते में मोती नगर थाने के एक उप निरीक्षक और सिपाहियों ने राकेश को धमकाया कि तुम पंचायत का गेहूँ मण्डी में बेचने क्यों जा रहे हो? राकेश ने उन्हें असलियत बतायी, लेकिन पुलिस वालों ने एक न सुनी और थाने में बंद करने की धमकी देते हुए पाँच हजार रुपये की माँग की। राकेश ने घबराकर पाँच सौ रुपये दे दिये। पुलिस ने एक हजार रुपये और माँगे तो उसने किसी परिचित से माँग कर दे दिये। जब फूलबाई को घटना के बारे में पता लगा तो वह अगले दिन थाने गयी। उप निरिक्षक ने कहा, "पुलिस के चक्कर में मत पड़ों", तो फूलबाई ने इसकी शिकायत तत्काल पुलिस अधीक्षक से की। जाँच शुरू हुई तो दो–तीन बार पुलिस वाले सरपंच के घर धमकाने के लिए आये। अंततः राजीनामे के लिए पुलिस ने सरपंच और राकेश को थाने बुलवाया और माफी माँगी।

भविष्य में तंग न करने के आश्वासन के बाद फूलबाई राजीनामे को तैयार हो गयी। रुपये लौटाने की बात आयी तो पुलिस वाले मात्र सौ रुपये देने लगे और

कहा कि बाकी बाद में लौटा देंगे। लेकिन फूलबाई अड़ गयी कि जिस तरह उसके बेटे ने लोगों से माँगकर रुपये दिये थे, वे भी किसी से माँग कर तत्काल रुपये लौटाये। आखिरकार पुलिसवालों को फूलबाई के आगे झुकना पड़ा। इस प्रकरण के बाद फूलबाई के साहस से पथरिया हाट और आसपास के गाँव वाले भी परिचित हो गये।

गाँव की विकास सम्बंधी योजनाओं के प्रस्ताव बनवाने और उनके लिए पैसा निकलवाने में रिश्वत देनी पड़ती थी। फूलबाई ने इससे भी निपटने का निश्चय किया एक निमार्ण कार्य के सिलसिले में विकासखण्ड कार्यालय के कनिष्ठ अभियंता ने जब उनसे रिश्वत माँगी, तो उन्होंने योजना के तहत दो दिन बाद रुपये देने की बात कही। अभियंता को इसकी भनक लग गयी तो उसने पैसे लेने से इनकार कर दिया। अब आलम यह है कि विकासखण्ड कार्यालय, कलेक्टोरेट, थाना या कचहरी कहीं भी, कोई फूलबाई से रिश्वत की बात नहीं करता। फूलबाई की महत्त्वपूर्ण लड़ाई गाँव के संसाधनों को अतिक्रमण से मुक्त कराने की भी रही है। गाँव स्थित एक मंदिर के ट्रस्ट के नाम से 20 एकड़ उपजाऊ जमीन पर एक व्यक्ति ने 10–15 सालों से कब्जा कर रखा था। आयुक्त के हस्तक्षेप से जमीन को मुक्त कराया गया। राजस्व निरीक्षक और सरपंच के नाम से ट्रस्ट का एक खाता खोला गया। उक्त जमीन को किसी को खेती पर देने और उससे होने वाली आय से विकास कार्यो को अंजाम देने पर विचार किया गया।

फूलबाई ने गाँव में कई निर्माण कार्यो को भी अंजाम दिया है। तालाब का निमार्ण कराया है और दलित बस्ती को सड़क से जोड़ा है। दलित बस्ती और स्कूल में हैडपम्प लगवाये हैं, स्कूल में दो कमरों का निर्माण करवाया है। अब गाँव में ग्राम स्वराज भवन और मुख्य सड़क पर यात्री प्रतीक्षालय का निर्माण कार्य चल रहा है। उन्होंने बताया कि यात्री प्रतीक्षालय की लागत ज्यादा आने के कारण 15 हजार रुपये उन्हें घर से लगाने पड़ रहे हैं।

इस गाँव सहित जिले के अन्य गाँवों में पिछले वर्ष से एक्शनएड ने दलित समानता और अधिकार अभियान परियोजना की शुरुआत की है। जब कार्यकर्ताओं को मालूम हुआ कि उनकी परियोजना शुरू होने से पहले ही पथरिया हाट की सरपंच अपने बलबूते समानता और अधिकार के लिए संघर्षरत है और उन्हें सफलता भी मिली है तो उन्होंने किसी भी अभियान में उनके साथ रहने का संकल्प लिया।

**(राजु कुमार)**

●●●

# राज पंचायती राज का*

## विकेन्द्रीकरण की 'पहली' शुरुआत

भारतीय संविधान की धारा–40 के अंतर्गत ग्राम पंचायतों की स्थानीय निकायों के रूप में परिकल्पना की गई थी। 1959 तक इस दिशा में कोई प्रगति नहीं हुई। यद्यपि स्थानीय विकास के लिए प्रायोगिक रूप में 1949 में राष्ट्रीय विस्तार और 1952 में सामुदायिक विकासखण्ड स्थापित किए गए पर इन सस्थाओं में निर्णय लेने की शक्तियाँ प्रशासन के हाथों में ही रही। इसमें जनता की भागीदारी नहीं हुई। नियोजित परियोजनाओं में जन सहभागिता बढ़ाने के लिए योजना आयोग द्वारा गठित समिति ने बलवंत राय मेहता की अध्यक्षता में एक उप समिति का गठन किया। समिति ने महसूस किया कि जब तक विभिन्न स्तरों पर विकास योजनाओं के बारे में निर्णय लेने की शक्तियाँ जन–प्रतिनिधियों को नहीं दी जाती तब तक इन योजनाओं में जनभागीदारी नहीं हो सकेगी, समिति ने ग्राम, खण्ड एवं जिला स्तर पर त्रि–स्तरीय पंचायतराज संस्थाओं के गठन करने और चुने हुए जनप्रतिनिधियों के इन संस्थाओं के चलाने के अधिकार देने की अनुशंसा की। देश में सत्ता विकेन्द्रीकरण की यह पहली शुरुआत थी।

> मध्यप्रदेश में पंचायती राज व्यवस्था लागू हुए एक दशक पूरे हो चुके हैं, अब जबकि तीसरी बार पंचायत चुनाव हो रहे हैं, यह देखना जरूरी है कि पंचायती राज व्यवस्था अपने मूल उद्देश्यों के कितने करीब रही? मतदाताओं में कितनी जागरूकता आई है या फिर हशियाए लोगों की भागीदारी कितनी बढ़ी है?

तीसरी मर्तबा मध्यप्रदेश में पंचायतों के चुनाव हो रहे हैं। 73वें संविधान संशोधन के बाद 1994 एवं 1999 में पंचायतों के चुनाव हुए थे तब छत्तीसगढ़ जुदा नहीं हुआ था। विभाजित मध्यप्रदेश में पहली बार पंचायत चुनाव हो रहे हैं। इस पर सभी की निगाहें टिकी हैं, सिर्फ इसलिए नहीं कि इसमें कौन जीतेगा या कौन हारेगा? बल्कि इसलिए कि हम पंचायतों के महत्व को लेकर कितने जागरूक हो गए हैं और इसमें जन की भागीदारी कितनी बढ़ी है, का पता चलेगा। गाँवों में चल

* नवभारत में प्रकाशित

रही गतिविधियों से इस बात के संकेत मिलने लगे हैं। पूर्व के दो चुनावों की तुलना में इस बार सरगर्मियाँ कुछ ज्यादा ही हैं, पर किस मायने में?

शिवपुरी जिले के कोलारस विकासखण्ड के भाटी ग्राम पंचायत आदिवासी सीट है। यहाँ सरपंच पद के तीन उम्मीदवार हरपाल, अमरपाल एवं बद्री चुनावी दंगल में हैं। ग्रामीणों का कहना है कि कोई करिश्मा ही बद्री को चुनाव जीतने से रोक सकती है, बद्री ने गाँव के विकास के लिए कुछ काम किया हो या दूसरों की अपेक्षा गाँव के विकास के लिए ज्यादा वादा किया हो, ऐसा नहीं है। उसे गाँव के एक महाजन जितवाना चाहते हैं। महाजन का गाँव ही नहीं, गाँव से बाहर भी प्रभाव है। आदिवासियों को मौके–बेमौके कर्ज देते हैं। बाहर से आने वाले अधिकारी उनकी बैठक की शोभा बढ़ाते हैं। उनके कई एकड़ खेतों में गाँव के साथ–साथ बाहर के ग्रामीण भी मजदूरी करते हैं। किसी ग्रामीण में हिम्मत नहीं है कि वह महाजन का विरोध कर सके। आखिर उन्हें रोजी–रोटी जो चलानी है। यह पंचायत आदिवासी वर्ग के लिए आरक्षित की गई है। और इसके पीछे मंशा यह है कि सत्ता में दलितों की भागीदारी बढ़ेगी।

व्यवस्था के अंतर्गत ग्राम पंचायत के स्तर पर स्थानीय आवश्यकताओं के आधार पर योजनाओं का खाका तैयार करने की बात की गई। 2001 में लागू ग्राम–स्वराज के बाद ग्रामसभा के माध्यम से सत्ता की शक्ति आम लोगों तक पहुँची। ग्रामसभा द्वारा पारित प्रस्तावों की अहमियत को सर्वोच्च रखा गया। पंचायतों के माध्यम से सत्ता विकेन्द्रीकरण का मूल उद्देश्य गाँव के विकास के साथ–साथ सामाजिक एवं आर्थिक न्याय पर जोर देना भी था।

पंचायत चुनावों में महिलाओं के लिए 33 प्रतिशत आरक्षण का प्रावधान है। प्रदेश की दो लाख से अधिक महिलाओं ने अब तक सत्ता में भागीदारी निभाई है और इस बार भी एक लाख से ज्यादा महिलाएँ सत्ता में भागीदार बनेगी। इस बार होना यह चाहिए था कि कम से कम 40 फीसदी महिलाएँ पंचायत चुनावों में जीतकर आती, पर ऐसा नहीं हो पाया। बहुत सारी महिलाएँ, जो चुनाव लड़ना चाहती थीं, पर लड़ नहीं पाई क्योंकि उन्हें गुमराह कर दिया गया। उन्हें बताया गया कि यह सीट महिलाओं के लिए आरक्षित है तो वह सीट पुरुषों के लिए, जबकि पुरुषों लिए कोई सीट आरक्षित नहीं है। इस गलत व्याख्या से हजारों महिलाओं के चुनाव लड़ने का सपना पूरा नहीं हो पाया। 26 जनवरी, 2001 के बाद जन्मे तीसरे या उसके बाद के संतानों के कारण पंचायत प्रतिनिधियों के रूप में चुनाव लड़ने की अयोग्यता की मार भी महिलाओं पर पड़ी है। अभी भी जिन महिलाओं ने अपनी समझ के आधार पर अनारक्षित सीटों से पर्चे भरे हैं उनके खिलाफ पुरुषों से कमतर

योग्यता होने का दुष्प्रचार किया जा रहा हैं। जबकि देखने में यह आया है कि पिछले एक दशक में महिला जन प्रतिनिधियों वाले पंचायतों में अपेक्षाकृत अच्छे और कहीं–कहीं बेहतर काम हुए हैं।

चुनाव से पूर्व इस बार सरकार ने एक फरमान जारी कर कहा कि जिन व्यक्तियों के नाम शासकीय भूमि पर अतिक्रमण का मामला है, वे पंचायत चुनाव के लिए अयोग्य हैं। इससे दलितों एवं आदिवासियों की राजनीतिक भागीदारी पर प्रश्नचिन्ह लग गया। पंचायती राज व्यवस्था के माध्यम से इन्हें सशक्त बनाने का वाद किया गया था। यहाँ तक कि अधिसूचित क्षेत्र की सभी पंचायतें आदिवासियों के लिए आरक्षित की गई हैं। दलितों एवं आदिवासियों में अधिकाँश किसी न किसी न किसी रूप में अतिक्रामक नजर आएँगे, जबकि ऐसा नहीं है। वन भूमि पर काबिज आदिवासी हों या फिर काम–धंधे के लिए चरनोई या पड़त भूमि पर काबिज दलित, ऐसे हजारों परिवार जीविकोपार्जन के लिए ऐसी स्थिति में हैं।

पिछले एक दशक में पंचायतों में निर्माण कार्यों पर अधिक जोर देखने को मिला, जबकि सामाजिक एवं आर्थिक न्याय की दिशा में अपवादों को छोड़कर कहीं कुछ खास नजर नहीं आता। छुआछूत, लैंगिक भेदभाव, बाल विवाह, जातीय पंचायतों के फतवे जैसे कई मुद्दों पर पंचायतें मौन दिखीं। यहाँ तक कि शिक्षा, स्वास्थ्य और रोजगार के मसलों पर भी पंचायतें मौन दिखीं। कहीं कुछ काम हुआ तो बाहरी हस्तक्षेपों से। अपवाद स्वरूप कहीं–कहीं किसी पंचायत प्रतिनिधि ने ठोस कार्य किए हैं। निर्माण कार्यों पर जोर रहने से यह कहा जाने लगा था कि पंचायतें निर्माण एजेंसी का काम कर रही है। इसके कारण भ्रष्टाचार के अनेक मामले उजागर हुए। यहाँ तक कि सामाजिक सुरक्षा से जुड़ी योजनाओं में भी। इसका कारण यह माना गया कि पंचायतों में नाम के लिए जन की भागीदारी है बल्कि अप्रत्यक्षतः गाँव के प्रभावशाली व्यक्तियों के हाथों में रही है।

(राजु कुमार)

•••

# पाँचवीं अनुसूची भी नहीं बदल पा रही आदिवासियों की जिंदगी*

स्वायत्तता का अर्थ अगर अभावों से भरी जिंदगी गुजारना है, तो मध्यप्रदेश के आदिवासियों ने दरिद्रता के अभिशाप को खुब झेला है। संविधान की पाँचवीं अनुसूची में आदिवासी इलाकों के प्रशासन के लिए विशेष प्रावधान किये गये हैं, लेकिन आदिवासियों के अभावग्रस्त जीवन को देखकर ऐसा प्रतीत नहीं होता कि पाँचवीं अनुसूची की व्यवस्था का कोई विशेष लाभ उन्हें मिला।

छिंदवाड़ा में तामिया के भरिया आदिवासी हों या बैतूल में भीमपुर के जंगलों में बसे कोरकू आदिवासी या फिर श्योपुर जिले के कराहल के सहरिया आदिवासी, सब पर रोज कुआँ खोद कर पानी पीने वाला मुहावरा लागू होता है। आदिवासी आए दिन काम की तलाश में खानाबदोशों की तरह यहाँ से वहाँ भटकते रहते हैं। लिहाजा उनके बच्चों की पढ़ाई भी ठीक से नहीं हो पाती। वैसे भी आदिवासी क्षेत्रों में सरकारी स्कूलों के अध्यापक नाम मात्र के लिए ही अपनी जिम्मेवारी का निर्वहन करते हैं, ऐसे भी शिक्षक मिल जाएँगे जो अपने वेतन का एक हिस्सा किसी पढ़े–लिखे नौजवान को देकर अपने हिस्से का काम पूरा कराते हैं और महीनों स्कूल नहीं जाते। मजदूरी की तलाश में जब आदिवासी स्त्री–पुरुष कई माह के लिए घर से दूर चले जाते हैं तब बच्चों को भी साथ ले जाने के अलावा कोई चारा नहीं बचता। इन हालात में आदिवासी बालक बालिकाओं का भविष्य अंधकारमय हो जाता है। जहाँ तक संविधान की पाँचवीं अनुसूची की बात है तो इसमें ऐसे प्रावधान किये गये हैं जिससे आदिवासी समाज की संस्कृति व परम्पराएँ अक्षुण्ण बनी रहें और कोई गैर आदिवासी उनका शोषण न कर सके। पाँचवीं अनुसूची में खास तौर पर यह व्यवस्था दी गई है कि आदिवासियों की जमीन का क्रय विक्रय नहीं हो सकता और उनके इलाकों में साहूकारी का धंधा नहीं चल सकता। यह व्यवस्था इसलिए दी गई, क्योंकि आदिवासियों की जमीन को बाहर से आकर बसे लोग औने–पौने दामों में खरीदकर उन्हें अपनी सदियों पुरानी बसाहटों और खेती की जमीन से बेदखल कर रहे थे। जिन लोगों के पास जमीन नहीं थी, उन्हें साहूकारों ने कर्ज के जाल में फँसाकर बँधुआ मजदूरों जैसा जीवन जीने को मजबूर कर दिया। पाँचवीं अनुसूची को अस्तित्व में आए एक लम्बी अवधि बीत गई है। आदिवासियों के ग्रामों में जाकर इस बात का अंदाजा सहज ही हो जाता है कि

* दैनिक जागरण में प्रकाशित

उनके यहाँ कुछ भी ठीक नहीं चल रहा है। उनके परिवार की बुनियादी जरूरतें भी बड़ी मुश्किल से पूरी हो पाती हैं। न उन्हें समय पर स्वास्थ्य सुविधाएँ सहज रूप से मिलती हैं, न चार पैसे कमाने लायक शिल्पकारी या कारीगरी का प्रशिक्षण उन्हें हासिल हो पाता है। उनके बच्चे जिन स्कूलों में पढ़ने जाते हैं, उनमें न तो पर्याप्त शिक्षक हैं, न शिक्षण प्रणाली। समय की जरूरत के मुताबिक गुणवत्तापूर्ण शिक्षा भी उन्हें नहीं मिल पाती। आदिवासियों की जीवन पद्धति को तथाकथित सभ्य नागर समाज के विपरीत तमाम वर्जनाओं से मुक्त माना जाता है। बहुलांश में यह बात सही भी है, लेकिन चिंता की बात यह है कि जो आदिवासी समुदाय गैर आदिवासियों के सम्पर्क में आ रहे हैं, वे कई तरह की वर्जनाओं में जकड़ते चले जा रहे हैं। मसलन, सहरिया जनजाति की महिलाओं में पर्दा प्रथा प्रचलित हो गई है। इसके अलावा विभिन्न आदिवासी समुदाय जेंडर यानी स्त्री–पुरुष भेद को लेकर भी काफी संवेदनशील हुए हैं। आदिवासियों की विपन्नता भरी जिंदगी के कारण अगर तलाशें जायें तो अधिकाँश लोग आदिवासियों को ही इस स्थिति के लिए जिम्मेदार ठहराते हुए मिल जाएँगे।

आदिवासी पुरुषों को अकर्मण बताते हुये यहाँ तक कहा जाने लगा है कि आदिवासी की जेब में अगर दो सौ रुपये होंगे तो वह तब तक काम पर नहीं जायेगा, जब तक कि ये रुपये खर्च न हो जाएँ। आदिवासियों को अकर्मण्य और नकारा बताने वाले लोग यह भूल जाते हैं कि आजादी से पहले अंग्रेज महाप्रभु भी भारतीयों को इन्हीं विशेषणों से नवाजा करते थे। अलबत्ता यह बात जरूर सही है कि आदिवासी समुदाय शराब की गिरफ्त में हैं। खासकर श्योपुर के सहरिया आदिवासी तो शराब के कारण ही उन्नति नहीं कर पा रहे हैं। सरकार अगर वास्तव में आदिवासियों को समृद्ध और संपन्न बनाना चाहती है तो उसे अपनी आदिवासियों से सम्बंधित नीति में तब्दीली करनी चाहिए। विशेषकर सहरिया आदिवासियों के इलाकों में तो शराब पर बिल्कुल पाबंदी लगा देनी चाहिए। सहरिया आदिवासी पिछली कई पीढ़ियों से शोषण का शिकार हैं। इसके चलते उनकी सेहत भी अब ऐसी नहीं रही कि वे कठोर परिश्रम वाला काम कर सकें। लेकिन अफसोस की बात यह है कि हर कोई उनसे दिन भर पत्थर तोडने की उम्मीद करता है। यह काम गोंड और भील आदिवासी तो कर सकते हैं, सहरिया आदिवासी नहीं। सदियों के शोषण और उपेक्षा से उन्हें जीर्ण–शीर्ण बना दिया है। जिन इलाकों में वे रहते हैं वहाँ खेत के नाम पर सिर्फ पथरीली चट्टाने हैं। इन पथरीली चट्टानों में उनसे मरूद्यान विकसित करने की उम्मीद की जाती है। कभी कोई यह नहीं सोचता कि सहरियाओं को भी गरिमामय जीवन जीने का उतना ही अधिकार है जितना दूसरों

को। किसी शिल्प विशेष में प्रशिक्षित करने के बजाय उनसे कब तक कड़ी मेहनत मजूरी का काम लिया जाता रहेगा। घोर विफलता और शोषण का शिकार होने के बावजूद सहरिया आदिवासी मन में बदले की भावना नहीं रखते। गरीबी से तंग आकर गलत रास्ते पर जाने के बारे में वे नहीं सोचते, लेकिन सहरियाओं के इस उज्ज्वल पक्ष की चर्चा कभी कोई नहीं करना चाहता। वे भी नहीं, जो आदिवासी समुदाय के ही हैं और वर्तमान में शासन के संचालन में प्रभावी भूमिका निभा रहे हैं। परम्पराओं और संस्कृति से जोड़े रखने की दृष्टि से संविधान की पाँचवीं अनुसूची में जो प्रावधान किये गये हैं वे अपनी जगह ठीक है लेकिन सत्ता के गलियारों में बैठे नीति निर्धारकों को कुछ ऐसे प्रयास भी करने चाहिए, जिससे आदिवासी समुदाय सिर्फ मेहनत मजदूरी पर आश्रित न रहे बल्कि एक गरिमामय जिंदगी जी सके और सही मायने में शिक्षित बनाकर उसकी संभावनाओं और क्षमताओं का उपयोग किया जा सके।

**(जयंत सिंह तोमर)**

•••

# सरकारी दखलंदाजी में भला कैसे पनपे ग्राम स्वराज*

स्थानीय स्वशासन की अवधारणा को प्रत्येक गाँव के स्तर पर लागू करने के उद्देश्य से पूर्ववर्ती मुख्यमंत्री दिग्विजय सिंह की सरकार ने ग्राम स्वराज अधिनियम के तहत ग्रामसभा को सारे अधिकार देने के जो प्रयास किए वे निश्चित ही सराहनीय थे। लेकिन इसके बावजूद यह व्यवस्था धरातल पर अपेक्षा के मुताबिक अगर क्रियान्वित नहीं हो सकी तो इसके पीछे कुछ खास कारण है। मसलन विकास कार्य के लिये जारी सारी धनराशि का सीधे पंचायतों तक न पहुँचना गाँव के विकास के लिये बनाई गई विभिन्न समितियों को कोई काम न सौंपना।

इसके अलावा ग्राम पंचायत अधिनियम की धारा 40 के जरिए प्रशासन सरपंचों को भयभीत भी किये रहता है। इस धारा के तहत नोटिस थमाकर अक्सर सरपंचों को अयोग्य ठहराने की कार्यवाही शुरू कर दी जाती है। जिस वर्ग के पास कभी सारे अधिकार रहे हों अधिकारों के विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया उन सबके लिये कुछ समय तक तकलीफदेह होना स्वाभाविक है। पिछले कुछ वर्षों में कई ऐसे प्रकरण सामने आए हैं जब पंचायतों के कामकाज में हस्तक्षेप को लेकर जिला पंचायत के अफसरों व प्रशासनिक अफसरों के बीच तीखी बहस हुई है। राजस्व अमला किसी समनांतर सत्ता को आसानी से स्वीकार नहीं कर पा रहा है। इसीलिये अनुविभागीय दंडाधिकारी व्यवस्था बनाए रखने के लिये सरपंचों को परेशान करने के लिए धारा 40 के नोटिस ज्यादा थमाते हैं, ऐसा तमाम सरपंचों का मानना है।

मुरैना जिले में कार्यरत स्वयंसेवी संस्था धरती के निदेशक देवेन्द्र भदौरिया का मानना है कि गाँवों के विकास के लिये जारी समस्त धनराशि प्रदेश की सभी ग्राम पंचायतों को समान रूप से जारी कर देनी चाहिए। इससे लाभ यह होगा कि ग्राम पंचायत को धन हासिल करने के लिये जो मशक्कत व कवायद करनी पड़ती है वह नहीं करनी पड़ेगी। इसके अलावा ग्राम विकास के लिये बनाई गई जितनी भी समितियाँ हैं उन्हें भी काम सौंपा जाना चाहिए। मसलन पेयजल व स्वच्छता के मद का सारा पैसा इससे सम्बंधित गाँव की समिति को दिया जाना चाहिए। कुएँ की सफाई, हैंडपम्प की मरम्मत व शौचालय का निर्माण कैसे हो, इसे वे समझे, तय करें। इसके दो लाभ होंगे। अव्वल तो लोगों की सहभागिता बढ़ेगी दूसरे विभिन्न समितियाँ सक्रिय रहेंगी। अगर किसी व्यक्ति या समिति को जिम्मेवारी दी जा रही है तो सम्बंधित मद का पैसा भी उसे देना ही पड़ेगा। फिलहाल ऐसा हो नहीं रहा है।

---

*** दैनिक जागरण में प्रकाशित**

जिसका नतीजा यह है कि ग्राम विकास समिति सहित सभी सहयोगी समितियाँ निष्क्रिय बनी रहती हैं।

जहाँ तक ग्रामसभाओं में लोगों की ज्यादा से ज्यादा उपस्थिति का प्रश्न है तो ग्राम पंचायत के मेम्बरों की इस काम में मदद लेना जरूरी है।

बकौल देवेन्द्र भदौरिया "ग्राम पंचायत के मेम्बर बाकायदा निर्वाचित नुमाइंदे होते हैं, लेकिन ग्राम स्वराज की नई व्यवस्था में ग्राम पंचायत मेम्बरों की भूमिका समाप्त प्रायः हो गई है।" कायदे से वार्ड में कहाँ, क्या विकास कार्य होगा इसकी माइक्रोप्लानिंग में वार्ड मेम्बर की मदद लेनी चाहिए। जब उन्हें महत्व मिलेगा तो वे ग्राम सभा की बैठक में कुछ लोगों को भी साथ लाएँगे। तब फर्जी ढंग से कोरम पूरा करवाने की समस्या भी नहीं रहेगी। ग्राम पंचायत के कर्ता–धर्ताओं की क्षमता वृद्धि के लिये प्रशिक्षण भी जरूरी है। इतने वर्षों में जब अफसरशाही के जरिये ग्रामों का अपेक्षित विकास नहीं हो सका तो अब गाँव के लोगों को भी पर्याप्त अवसर व स्वतंत्रता दी जानी चाहिए।

**(ज़यंत सिंह तोमर)**

●●●

# 4 सामाजिक सद्भाव

## अभी भी जारी है मालगुजारी परम्परा*

बघेलखंड में अभी भी मालगुजारी परम्परा जारी हैं। पूरे क्षेत्र पर नजर डाली जाये तो हजार एकड़ या उससे अधिक जमीन के मालिक किसानों को आसानी से देखा जा सकता है। ग्रामीण क्षेत्रों में आज भी बड़े किसानों को मालगुजार कहकर ही पुकारा जाता है। आश्चर्यजनक बात यह है कि प्रदेश में हुए भूमि सुधार, भूदान आंदोलन व दलित एजेण्डे के बाद भी दलितों के पास जमीन नहीं है। अधिकतर सरकारी जमीन पर भी इन्ही असरदारों का कब्जा है।

मढ़वा की कुसुम का कहना है कि यहाँ दलितों के पास जमीन नहीं हैं। कुछ जमीन मिली है, पर वह केवल घर बनाने लायक। इसी गाँव के रामकृपाल बताते हैं कि उन्हें (3 या 4 डिस्मिल) एक एकड़ जमीन मिला है, इस जमीन पर उन्होंने घर बना लिया है। गाँव में जो सरकारी जमीन है, उस पर एक ठाकुर ने फॉर्म हाउस बना रखा है। मनकाहारी के रामशरण साकेत बताते हैं कि उनके गाँव में लगभग 80

### कभी मनई की परम्परा थी

**रीवा :** आज़ादी से पहले जब देश में सामंती व्यवस्था थी, तब यहाँ मनई रखने की परम्परा थी। अब देश आजाद है, तब मनई की व्यवस्था तो खत्म हो गई पर खेत मजदूरों की दशा में कोई खास सुधार नहीं हुआ। बताया जाता है कि मनई दासप्रथा का एक रूप था, जिसमें एक श्रमिक को खरीदा जाता था, वह भी मात्र 80 रुपये में। अगर कोई उसे खरीदना चाहे तो उसे उससे अधिक कीमत देनी होती थी, जिससे वह अपने पुराने मालिक का कर्ज चुका सके। इन मजदूरों को प्रतिदिन सवा किलो अनाज खाने को दिया जाता था, जिसमें 11 फीसदी त्यौरा तथा एक फीसदी गेहूँ हिस्सा होता था। त्यौरा खाने से विकलांगता आती हैं। अक्सर मनई रात में मौका देखकर भाग निकलते थे, पकड़े जाने पर पिटते थे या फिर किसी नये चौकीदार को पकड़कर पहले मालिक का पैसा चुकाते थे। हालात आज बदले हैं, फिर भी कई स्थानों पर अभी भी बाप का कर्ज चुकाने के लिए बेटे मालगुजारों के यहाँ काम कर रहे हैं, इन्हें मजदूरी में दिन भर में एक कुटई अनाज मिलता है। मालगुजारों ने इसमें भी चालाकी कर ली है, घर की कुटई तीन किलो की होती है पर मजदूरों को अनाज जिस कुटई से दिया जाता है, वह ढाई किलो की होती है।

* दैनिक जागरण में प्रकाशित

एकड़ सरकारी जमीन है, जिस पर रामराज तिवारी व भूषण प्रसाद तिवारी का कब्जा है। इन लोगों ने श्मशान की भूमि पर भी कब्जा कर रखा है। इसे लेकर कई बार प्रशासन को आवेदन दिया, पर कोई कार्रवाई नहीं हुई। सहिजना निवासी छोटेलाल बताते हैं कि उनके पास 10 डिस्मिल जमीन है। खेती की जमीन का उन्हें पट्टा नहीं दिया गया, जो सरकारी जमीन है उस पर गाँव के ब्राह्मणों व पटेलों का कब्जा है।

जमीन विहीन इन दलितों के पास इन बड़े किसानों के खेत में काम करने के अलावा कोई रास्ता नहीं है। मनकाहारी की बूटान साकेत बताती हैं कि उसके परिवार के लोग दूसरों के खेत पर काम करते हैं, मना करने पर इन दलितों को परेशान किया जाता है। यहाँ एक सवाल खड़ा होता है कि शासन की तमाम योजनाओं का लाभ इन्हें क्यों नहीं मिला? दुर्गकोली के राजेन्द्र सिंह ठाकुर कहते हैं कि यहाँ हमेशा से राजनीति पर ब्राह्मण व ठाकुरों का कब्जा रहा है, इसी कारण योजनाओं का लाभ भी इन्हें ही मिला। अर्जुन सिंह के शासन काल में ठाकुरों ने लाभ उठाया, वहीं पिछली सरकार में श्रीनिवास तिवारी एक ताकत बनकर उभरे, तो ब्राह्मणों ने सरकारी जमीनों पर कब्जा कर लिया। ललपा में दलित आदिवासी आंदोलन करने के बाद भी सरकारी जमीन को नहीं बचा पाए, यहाँ पूरे तालाब पर ही कब्जा कर लिया गया। हालात यहाँ तक हुए कि जो जमीन नहीं बेचता, उसकी जमीन का नामांतरण तक अपने नाम करा लिया जाता है। सिहोरा के स्वतंत्रता संग्राम सेनानी कैलाश मामाजी कहते हैं कि यहाँ भूमि सुधार व भूदान आंदोलन के बाद भी पात्र लोगों को जमीन नहीं मिल पाई, जो चालाक थे, उन्होंने अपनी जमीन बचा ली, कुछ आदिवासी ताल्लुकदार भी थे, पर वे अपनी जमीन नहीं बचा पाए। वे बताते हैं कि पाटन में तो लोगों ने अपने कुत्तों के नाम पर जमीन कर दी थी। वे यह भी बताते हैं कि एक नया प्रशासनिक अधिकारी आया था, उसने जब यह देखा तो कार्रवाई करने का मन बनाया पर उसे ऊपर से समझा दिया गया, उसके बाद किसी ने कोई कार्रवाई नहीं की। रीवा क्षेत्र में भी ऐसे किसानों की कमी नहीं है। मऊगंज क्षेत्र में 20 से 25 किसान ऐसे हैं, जिनके पास हजार से दो हजार एकड़ जमीन है। हनुमना के पास स्थित चरैया गाँव के हनुमान पाठक के पास चार हजार एकड़ से अधिक जमीन है, वहीं पपरा के नृपेन्द्र सिंह के पास 2200 एकड़ जमीन है। इनमें से तमाम जमीन उन्हीं दलितों व आदिवासियों के है, जिन्हें इसकी जानकारी नहीं है और वे अपने ही खेतों में मजदूरी कर मालगुजार का घर भर रहे हैं।

**(भारत शर्मा)**

●●●

# अपनी संस्कृति को लेकर चिंतित हैं आदिवासी*

झाबुआ के आदिवासी अपनी सांस्कृतिक पहचान को लेकर चिंतित हैं। इनकी जितनी जिम्मेदारी ईसाई मिशनरी की है उतना ही दोष उन संगठनों का भी है जो हिंदू के नाम पर आदिवासियों को संगठित करने का प्रयास कर रहे हैं। झाबुआ क्षेत्र में पिछले दिनों से इन संगठनों की गतिविधियों के कारण जहाँ इनके तमाम परम्परा खत्म करने का प्रयास किया जा रहा है वही तमाम बुराइयाँ भी इस समाज के लोगो में आ रही है। समाज के लोगो का कहना है कि उन्हें ईसाई धर्म और हिन्दू धर्म दोनों नहीं चाहिये, वे अपनी संस्कृति को बचाने के लिये खुद सक्षम हैं।

उल्लेखनीय है कि पिछले दिनों से झाबुआ धर्मांतरण के नाम पर आकर्षण का केन्द्र बना हुआ है। विश्व हिन्दू परिषद्, बजरंग दल व संस्कार भारती लगातार इस मामले को मुद्दा बनाये हुए हैं। कुछ क्षेत्रों में घर वापसी जैसे कार्यक्रम भी आयोजित किये गये हैं, व्यापक तौर पर इसका असर आदिवासियों पर देखा जा सकता है। आदिवासी समाज में इसे लेकर अच्छी खासी बहस भी चल रही है। हालाँकि इस बात को आदिवासी स्वीकार करते हैं कि जो आदिवासी ईसाई बने, उनके जीवन स्तर में सुधार आया, साथ ही वे यहाँ मिशनरी द्वारा गरीबों की सेवा किये जाने को लेकर भी उनका सम्मान करते हैं। आदिवासी बताते हैं कि धर्मांतरण यहाँ काफी पहले हुआ था। पिछले कई वर्षों में इस तरह की प्रक्रिया पूरी तरह से थमी हुई है। ईसाई बने आदिवासियों की पीढ़ियाँ ही अब ईसाई हैं, पर उनकी नाराजगी अपनी पहचान को लेकर है। आदिवासियों का कहना है कि जो आदिवासी ईसाई बन गये हैं वे परम्पराओं को छोड़ गये हैं। न तो वे उनके देवस्थानों की पूजा करते हैं न ही अभिवादन के परम्परागत तरीकों का सम्मान करते हैं।

आदिवासियों की समस्या केवल ईसाई मिशनरी को बाहर कर देने से ही खत्म नहीं होने वाली। तमाम हिन्दुवादी संगठन भी वही सब कर रहे हैं। आदिवासियों के देवस्थानों के स्थान पर हिन्दू मंदिरों की प्रतिष्ठा की जा रही है। आदिवासियों के देवस्थानों को हटाया जा रहा है। आदिवासी क्षेत्रों में पाँच वर्ष पहले से हिन्दू त्यौहार मनाने की परम्परा शुरू की गई है और आदिवासी संस्कारों को अंधविश्वास कह कर दूर करने की बात यहाँ प्रचारित की जा रही है। बताया गया है

---

* दैनिक जागरण में प्रकाशित

कि रक्षाबंधन जैसा त्यौहर आदिवासियों में कुछ वर्षों पहले से ही शुरू हुआ है। शादी में पहले आदिवासी पूजारियों को नहीं बुलाया जाता था, पर अब यह परम्परा शुरू हो गई है। आदिवासियों में पहले खेती सहित अन्य काम आपसी सामंजस्य से किया जाता था, जिसे अरजी–पड़जी कहा जाता था, अब यह व्यवस्था भी खत्म होती जा रही है।

आदिवासियों का एक हिस्सा अपनी सांस्कृतिक पहचान के कारण काफी चिंतित नजर आ रहा है। इस समाज में अभी तक नारियों को जो स्वतंत्रता मिली थी, अब वह भी कम होती जा रही है। झाबुआ के आदिवासियों के बीच काम करने वाले खेड़ूत मजदूर संगठन के शंकर का कहना है कि आदिवासी संस्कृति का विकास द्रविड़ सभ्यता से हुआ है। ऐसे में उन्हें हिन्दू बनाना भी उनका धर्मांतरण है, पर इस पर कोई कुछ भी कहने को तैयार नहीं है। शंकर सवाल खड़ा करते हैं कि आदिवासी कभी भी इतने कंगाल नहीं रहे कि उनके पास अपना धर्म व अपनी संस्कृति नहीं हो, खेड़ूत मजदूर संगठन ने इस क्षेत्र के आदिवासियों को अपनी सांस्कृतिक पहचान बनाये रखने के लिये संगठित करना शुरू कर दिया है। वर्तमान हालात को देखकर लगता है कि इस क्षेत्र में जल्दी ही धर्मांतरण को लेकर एक नई बहस शुरू होने वाली है, वह कितनी व्यापक होगी, कहना मुश्किल है।

**(भारत शर्मा)**

•••

# नीलामी से हथियाई जाती है जमीन*

शासन द्वारा बनाए गये नियमों के अनुसार आदिवासियों की जमीन खरीदी नहीं जा सकती। पर यहाँ सामंत जानते हैं कि उस जमीन की नीलामी हो सकती है। इसी का फायदा उठाकर वे आदिवासियों की जमीन हड़प रहे हैं। जमीन के मामले में आदिवासियों को गच्चा देने में वेस्टर्न कोल्ड फील्ड लिमिटेड (डब्लू, सी. एल.) भी पीछे नहीं है।

छिंदवाड़ा में तमाम नेताओं व पटेलों के पास सुख–सुविधाओं की कई वस्तुएँ ऐसी हैं, जो आदिवासियों के नाम पर फाइनेंस कराई गयी हैं। मुकड़ा के पूर्व सरपंच संतोष पटेल ने आदिवासियों के नाम पर कई भैंस बेचकर उन्हें मृत दिखाकर बीमे का पैसा भी ले लिया। इन्हीं संतोष पटेल ने मेहतर आदिवासियों की 15 एकड़ जमीन मात्र 80 हजार रुपये में नीलामी में खरीद ली। मेहतर आदिवासी ने सहकारी बैंक से ट्रैक्टर खरीदा था, जिसका कुछ पैसा चुकाना बाकी था। इसी को आधार बनाकर उसकी जमीन डेढ़ वर्ष पूर्व नीलाम कर दी गयी। आदिवासियों की जमीन लेने के मामले में प्रशासन भी पीछे नहीं है। बताया गया है कि पिछले दिनों अनिल पटेल नामक एक भाजपा नेता व वकील ने चौखड़ा ढाना के आदिवासियों की शिकायत की। इसी आधार पर 35 आदिवासियों को मकान खाली करने के आदेश तहसीलदार ने थमा दिये। यह आदेश जारी करने से पहले आदिवासियों का पक्ष नहीं सुना गया। महत्वपूर्ण बात यह है कि कन्या परिषद् व हिन्दुस्तान लीवर लिमिटेड का कारखाना इसी गाँव की शासकीय भूमि पर खड़ा है।

आदिवासीं राजघराने की ज्ञानदा देवी की जमीन पर कब्जा कर संत आशाराम बापू द्वारा बनाए आश्रम का मामला न्यायालय में चल रहा है। न्यायालय द्वारा यहाँ किसी भी प्रकार के निर्माण पर लगी रोक का पालन भी प्रशासन नहीं कर रहा है। वहीं छिंदवाड़ा में बनी मधुवन कॉलोनी भी आदिवासियों की भूमि है। हरेई की रानी पूर्व मंत्री शैल कुमारी से यह जमीन काबरा नाम के व्यक्ति ने ठेके पर ली थी, बाद में जमीन पर अपना नाम चढ़वाकर उन्होंने वहाँ कॉलोनी बना दी। यह मामला भी अदालत में है।

---

*दैनिक जागरण में प्रकाशित

आदिवासियों की जमीन हड़पने के मामले में डब्लू.सी.एल. भी पीछे नहीं है आदिवासी नेता नेपाल शाह बताते हैं कि तमाम कोयला क्षेत्र में ऐसे मामले हैं उन्होंने बताया कि पेंच एरिया में रहने वाले रूपराम धुर्वे, रूप स्वरूप व स्वरूप आदिवासी को पाँच एकड़ जमीन व 65 पेड़ों का मुआवजा मात्र 1 लाख 65 हजार रुपये बनाया गया। वहीं मुआवजा देने से पूर्व ही जमीन की खुदाई शुरू कर दी गयी। अम्बाड़ा के रामदयाल की 3 एकड़ जमीन डब्लू.सी.एल. ने ली, पर उसे आज तक मुआवजा नहीं दिया गया, जबकि उसकी जमीन पर खुदाई जारी है।

नेपाल शाह बताते हैं कि शासन की नीति है कि जिस परिवार की जमीन ली जाएगी, उसके एक सदस्य को नौकरी दी जाएगी, पर तमाम आदिवासी अपनी जमीन गँवाकर भी भटक रहे हैं, पर उन्हें नौकरी नहीं दी गयी।

**(भारत शर्मा)**

●●●

# सुनियोजित हैं यह हमले*

मध्यप्रदेश में अल्पसंख्यक ईसाई समुदाय इन दिनों सर्वाधिक असुरक्षित हैं, क्योंकि बजरंग दल और विहिप जैस उन्मादी संगठनों ने आजकल इस समुदाय को अपने हमलों का मुख्य निशाना बनाया हुआ है। ईसाइयों के प्रति साम्प्रदायिक संगठनों के आक्रामक हमलों के चलते राज्य में न सिर्फ उनके आराधना स्थल असुरक्षित हैं, बल्कि समूचा ईसाई समुदाय अपनी जान और माल की रक्षा को लेकर भी खासा चिंतित है। धर्मांतरण के निराधार आरोपों को उछालकर ईसाई समुदाय को निशाना बनाना वैसे तो साम्प्रदायिक संगठनों की पुरानी फितरत है। यह एक स्वीकृत सच्चाई है कि राज्य में निजाम बदलने के बाद ईसाइयों पर हमले बढ़े हैं। भाजपा के सत्ता में आने के बाद इस समुदाय के खिलाफ धर्मांतरण के झूठे मामले गढ़े जा रहे हैं और सुनियोजित हमले कर साम्प्रदायिक तनाव पैदा किया जा रहा है।

भोपाल में ईसाइयों पर हाल ही में हुए हमले के बाद राज्य में कई स्थानों पर हमले इस समुदाय के प्रति साम्प्रदायिक संगठनों की बर्बरता का ही सबूत है। विगत 28 जनवरी को भोपाल में बजरंग दल कार्यकर्ताओं ने ईसाइयों पर उस समय हमला बोला जब वह सामूहिक प्रार्थना कर रहे थे। प्रार्थना स्थल पर पहले तो बजरंगियों ने पथराव किया। इससे पहले की प्रार्थना कर रहे लोग कुछ समझ पाते, हमलावरों ने लाठी–डण्डों और धारदार हथियारों से उन पर हमला कर दिया। इस हमले में फादर और पादरी सहित आठ लोग घायल हुए। घटना के बाद बजरंग दल ने इससे पल्ला झाड़ने की कोशिश की। उसके एक नेता ने कहा कि ईसाइयों पर हमले से 'बजरंग दल' का कोई सम्बंध नहीं है। लेकिन सच्चाई सिर चढ़कर भी बोली, क्योंकि इस नेता ने साथ ही यह भी कहा कि "धर्मांतरण का विरोध हम जारी रखेंगे।" इससे जाहिर था कि ईसाइयों पर यह हमला कथित धर्मांतरण की आड़ में साम्प्रदायिक तनाव पैदा करने के लिए ही किया गया था।

इन साम्प्रदायिक संगठनों की ईसाई समुदाय के प्रति दुर्भावना इस बात से भी जगजाहिर हुई कि यह संगठन धर्मांतरण का कोई ठोस सबूत नहीं दे पाए। अलबत्ता, वह धर्मांतरण के झूठे आरोपों को उछालकर तनाव पैदा करने के अपने हमलावर हथकण्डों को राज्य के दूसरे हिस्सों में भी आजमा रहे हैं और कमोबेश रोजाना ही उनकी प्रार्थना सभाओं, चर्च और ईसाइयों पर हमलों का तांडव जारी है।

---

*** बिजनौर टाइम्स में प्रकाशित**

यह हमले कितने सुनियोजित हैं, इसका पता इस बात से भी चलता है कि भोपाल मे किए गए हमलों के दो दिन बाद ही होशंगाबाद जिले के सिवनी मालवा में डेढ़ सौ साल पुराने चर्च को पेट्रोल डालकर जलाने का प्रयास किया और इटारसी में भी चर्च में तोड़फोड़ की गई। बैतूल स्थित चर्च में मिट्टी का तेल डालकर आग लगा दी गई। इंदौर के एक चर्च में भी तोड़फोड़ की गई और दो पादरियों को पीट–पीटकर जख्मी कर दिया गया।

हमलावर साम्प्रदायिक तत्वों को राज्य सरकार के संरक्षण का पता इसी बात से चलता है कि जन दबाव के चलते पुलिस ने इन घटनाओं के सिलसिले मे अलग–अलग जगह बजरंग दल और विहिप के कुछ लोगों को गिरफ्तार तो किया, लेकिन हिरासत में उनकी खूब आवभगत की गई। सिर्फ यही नहीं बल्कि शासन के तमाम नियमों को बलाए ताक रखते हुए इन तत्वों को आधी रात को रिहा भी कर दिया गया। मुख्यमंत्री के आश्वासन के बाद भी ईसाई समुदाय के लोगों को समुचित सुरक्षा मुहैया नहीं है। इस समुदाय के प्रति सरकारी पक्षपात की इससे बड़ी मिसाल क्या होगी कि राज्य में अब तक घट चुकी दर्जन भर घटनाओं के एक भी मामले में सरकार ने राहत या मुआवजे के लिए हामी नहीं भरी है। साम्प्रदायिक तत्वों के हौसले इतने बुलंद है कि ग्वालियर में कथित गौ हत्या के विरोध में बजरंग दल और विहिप ने बलपूर्वक पूरे शहर को बंद कराया। दुकानें बंद न करने पर कई व्यापारियों से हाथपाई भी इन उपद्रवियों ने की। गरीब टेम्पो और रिक्शा चालकों को भी नहीं बख्शा। पुलिस ने उन्हें समझाने की कोशिश की, तो बंद करा रहे उपद्रवियों ने दो पुलिस अधिकारियों सहित उनके कई सह कर्मियों की पिटाई की। आश्चर्य तो यह है कि इस मामले में राज्य मंत्री ने बजरंगियों के हाथों पिटी अपनी ही पुलिस की खैर खबर लेने के बजाए उल्टे पुलिस पर ही यह आरोप जड़ दिया कि उसने बजरंग दल और विहिप के कार्यकर्ताओं से ज्यादती की। जहाँ साम्प्रदायिक तत्वों को इस हद तक सरकारी संरक्षण प्राप्त हो, ऐसे में राज्य में हमलों का शिकार हो रहे ईसाइयों की सुरक्षा की उम्मीद इस सरकार से कैसे की जा सकती है? यही वजह है कि अब ईसाई समुदाय को अपनी सुरक्षा के लिए राज्यपाल से गुहार लगानी पड़ी है।

(जाकिर अली)

●●●

# संघ को क्यों नहीं दिखती गरीबी-बेरोजगारी*

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने सन् 2001 की जनगणना के आँकड़े एक बार फिर हवा में उछाल दिये हैं, इन आँकड़े पर संघ ने अपनी पहली प्रतिक्रिया तब भी दी थी – जब भारत के जनगणना आयुक्त ने यह आँकड़े जारी किये थे। जनगणना रिपोर्ट पर टिप्पणी करते हुए संघ ने तब कहा था कि 'देश में मुस्लिम समुदाय की जनसंख्या तेजी से बढ़ रही है। यदि ऐसा ही रहा तो हिन्दू अपने ही देश में अल्पसंख्यक हो जाएँगे.....वगैरह–वगैरह। इससे पहले की संघ की यह बात पूरी तरह लोगों के गले उतरती, खुद जनगणना आयुक्त ने यह स्पष्ट कर दिया था कि इसमें जम्मू कश्मीर और असम के आँकड़े नहीं जोडे गये हैं यदि उन्हें शामिल कर लिया जाए तो पहले की 32.9 फीसदी की तुलना में मुस्लिमों की आबादी दर घटी है यह दर अब 29.3 प्रतिशत है।

संघ के बवाल के बाद जनगणना आयुक्त ने यह भी स्पष्ट किया था कि 'रिपोर्ट में यह आँकड़े पहले से ही थे, जिन्हें देखने की जहमत किसी ने नहीं उठाई। दरअसल, आबादी को लेकर संघ का यह दृष्टिकोण कोई नई बात नहीं है, लेकिन जिस आक्रामक ढंग से उसने इस मुद्दे को अब फिर से उठाने की कोशिश की है उससे कई सवाल खुद संघ को कठघरे में खड़ा करते हैं। पहला सवाल तो यही कि सन् 2001 के आँकड़े का हवाला देकर संघ बार–बार आबादी के घटने–बढ़ने की बात रह–रहकर क्यों उठा रहा है? इसका सीधा जवाब है कि वह इसे एक भावनात्मक मुद्दा बनाना चाहता है। लेकिन सब जानते हैं कि संघ मुस्लिमों की तादाद बढ़ने का हौवा पहले भी खड़ा कर चुका है। शायद इसीलिए उसने इन आँकड़े पर इस बार सार्वजनिक रूप से कुछ कहने से पहले कुछ ज्यादा ही चतुराई बरती।

अभी चंद दिनों पहले की कुछेक अखबारों में यह खबर प्रमुखता से छपी कि उत्तर–पूर्व भारत के छह राज्यों में हिन्दुओं की जनसंख्या पचास फीसदी से कम हो गई है.....और उत्तरी बिहार व उससे लगे पश्चिम बंगाल में मुसलमानों की आबादी 50 फीसदी से काफी ऊपर है। इसी खबर में यह सफाई भी दी गई कि यह आँकड़े राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ या विश्व हिन्दू परिषद् की किसी प्रचार पत्रिका से नहीं लिए गए हैं, बल्कि यह सन् 2001 में हुई जनगणना के आँकड़े हैं, जिनकी हाल ही में चैन्नई स्थित समाज समीक्षक नीति केन्द्र के समाजशास्त्रियों ने धर्म के आधार पर विवेचना की है। इस खबर में यह भी कहा गया कि इन आँकड़ों से संघ का कोई लेना–देना नहीं है.....और इस खबर में लगे हाथ यह भी बताया गया है कि

---

***लोकमत समाचार में प्रकाशित**

समाजशास्त्रियों द्वारा तैयार इन आँकड़ों को 'जनसांखिकी' नामक एक पुस्तक संजोया गया है जिसका विमोचन संघ के सर संघचालक के.एस. सुदर्शन करेंगे।

जिस दिन अखबारों में यह खबर आई, ठीक उसी दिन दिल्ली में इस पुस्त का विमोचन करते हुए संघ प्रमुख के.एस. सुरर्शन ने हिन्दुओं को चेत जाने क ताकीद की। सिर्फ यही नहीं संघ प्रमुख ने यहाँ तक कह डाला कि हिन्दुओं को 'ह दो हमारे दो' की मानसिकता से उबरना चाहिए अर्थात् जनसंख्या वृद्धि पर ध्या देना चाहिए, संघ प्रमुख के इस उकसावेपूर्ण आह्वान से कई सवाल पैदा होते हैं एक तो यह कि संघ को हिन्दुओं की दूसरी समस्याएँ क्यों नजर नहीं आती? उनक गरीबी, बेरोजगारी के प्रति वह चिंतित क्यों नहीं है? वह जनसंख्या के आँकड़े क विश्लेषण सिर्फ धार्मिक आधार पर ही क्यों कर रहा है? जबकि एक तस्वीर दूस भी है – पिछले एक दशक में रोजगार वृद्धि दर घटी है यह दर 2 फीसदी से घटक 1 फीसदी पर पहुँच गई है। रोजगार के अवसरों के घटने का मतलब साफ है वि बेरोजगारी व गरीबी बढ़ रही है। इससे हिन्दू या मुस्लिम कोई भी अछूता नहीं है संघ को इस पर भी गौर करना चाहिए कि ग्रामीण भारत में बसने वाले 27.6 प्रतिश हिन्दू खेत मजदूर के रूप में काम करने को मजबूर हैं। हिन्दू दलितों में तो खे मजदूरों की तादात 37.6 फीसदी है।

इस दृष्टि से देखें तो मुस्लिमों की हालत और भी खराब है, सरका नौकरियों में उनकी संख्या मात्र 2 फीसदी है। इसलिए ज्यादातर वह अप परम्परागत धंधों से ही अपनी आजीविका चला रहे हैं। साक्षरता में भी मुस्लिम हिन्दुओं से लगभग 5 फीसदी पिछड़े हैं। रही बात आबादी बढ़ने की तो इसक सम्बंध किसी धर्म से नहीं बल्कि चेतना से है। जनसंख्या वृद्धि के बारे में य विश्वव्यापी मान्यता है कि 'गरीबी–अशिक्षा और उससे उपजी अज्ञानता से ह जनसंख्या बढ़ती है और यह समस्याएँ सभी समुदायों में व्याप्त हैं इसलिए संघ क इस तरह हिन्दुओं के भावनात्मक शोषण की बजाए जनगणना आयुक्त के उ बयान पर भी ध्यान देना चाहिए जिसमें उसने साफ तौर पर यह बताया था 'मुस्लिम की आबादी वृद्धि दर पिछले दशक के मुकाबले घटी है। जाहिर है कि ऐसा संघ क गर्जनाओं से नहीं बल्कि भारत में तेजी से चलाए जा रहे जनसंख्या नियंत्र कार्यक्रम की वजह से सम्भव हुआ है। जिसके चलते ही सभी समुदायों के लो छोटे परिवार का महत्व पहले की तुलना में अब ज्यादा समझ रहे हैं। इसलि जनसंख्या वृद्धि के लिए संघ की उकसावेपूर्ण सलाह का कोई औचित्य नहीं है।

**(जाकिर अली**

●●●

# दावों से उलट, दलित उत्थान की हकीकत*

दलितों के उत्थान के दावे तो खूब किए जाते हैं। लेकिन जमीनी हकीकत उनसे बिल्कुल उलट है, इसका अहसास मध्यप्रदेश में संचालित योजनाओं के क्रियान्वयन की निराशाजनक स्थिति से होता है। प्रदेश में दलितों के लिए चलाई जा रही विभिन्न योजनाओं के क्रियान्वयन पर हाल ही में आई एक रपट से पता चलता है कि दलितों के उत्थान के लिए आई राशि नौकरशाही की लापरवाही के चलते कई मदों में पूरी खर्च ही नहीं की जाती। इस कारण प्रतिवर्ष भारी भरकम राशि लैप्स हो जाती है। दलित योजनाओं के क्रियान्वयन में अरुचि के चलते ही प्रदेश में दलितों के लिए मिली 330 करोड़ रुपये की राशि इस वर्ष डूब गई है।

योजनाओं के क्रियान्वयन के मामले में एक कटु सत्य बार–बार सामने आता है कि भ्रष्टाचार के चलते लोगों को योजनाओं का सही लाभ नहीं मिल पाता है। ऊपर से, आबंटित राशि को खर्च करने के प्रति कोताही बरती जाए तो योजनाओं का हश्र क्या होगा? वंचितों व जरूरतमंदों को कैसे इन योजनाओं का लाभ मिल पाएगा? इसका अंदाजा सहज ही लगाया जा सकता है। एक तो भ्रष्टाचार, ऊपर से पैसा खर्च करने में कोताही, यही दो कारण हैं, जिनके चलते ही दलित योजनाओं का लाभ दलितों को ही नहीं मिल रहा है और आजादी के वर्षों बाद भी वे सामाजिक व आर्थिक रूप से पिछड़े हुए हैं। म.प्र. की कुल आबादी में 21 प्रतिशत दलित हैं। जिनके उत्थान के नाम पर प्रति वर्ष ढाई हजार करोड़ की राशि केन्द्र व राज्य सरकार द्वारा मुहैया कराई जाती है। अनुसूचित जाति उप योजना में मिलने वाली यह राशि दलितों की शिक्षा उनके रोजगार, स्वास्थ्य के साथ ही दलित क्षेत्रों में सड़कों के निर्णय व अन्य मूलभूत सुविधाएँ प्रदान करने के लिए दी जाती हैं। लेकिन आँकड़े बताते हैं कि कई विभागों में पूरी राशि खर्च ही नहीं की जाती।

एक रपट के मुताबिक राज्य सरकार ने पिछले वर्ष अनुसूचित जाति उप योजना में विकास करने के लिए 932 करोड़ 19 लाख रुपये का बजट दिया था जबकि आदिवासी उप योजना में 1614 करोड़ 65 लाख रुपये आबंटित किए थे। दोनों योजनाओं में दलितों के विकास, स्वास्थ्य, शिक्षा, रोजगार, पोषण, गाँव को बिजली से जोड़ने तथा सड़क आदि के लिए 2546 करोड़ 70 लाख का बजट दिया था, परन्तु एक दर्जन से अधिक विभाग 80 फीसदी से अधिक राशि का उपयोग ही नहीं कर सके। विधायक निधि तथा जन भागीदारी में भी 49 फीसदी राशि ही खर्च

---

* अग्निपथ में प्रकाशित

हुई। इस मायने में सबसे खराब स्थिति विद्युत विभाग की है जिसे अनुसूचित ज वर्ग के गाँवों को बिजली से जोड़ने के लिए 5 करोड़ 17 लाख की राशि आबं थी, जिसमें केवल 34 लाख रुपये ही खर्च किए गए, बकाया राशि लैप्स हो ग माध्यमिक शिक्षा के लिए उपलब्ध 4 करोड़ के बजट में एक करोड़ की राशि लै हुई, स्वास्थ्य पर 83 करोड़ 16 लाख की जगह केवल 47 करोड़ ही उपयोग में कि गए। नगरीय क्षेत्र के लिए आई 5 करोड़ की राशि भी लैप्स हो गई। दलितों पोषण आहार में आबंटित 16 करोड़ से अधिक रुपये लैप्स हो चुके हैं।

इसी तरह आदिवासी विभाग में पशुपालन, कृषि अनुसंधान, वन, सहकारि आदि के लिए 67 करोड़ में से 14 करोड़ की राशि लैप्स हो चुकी है। ग्रामीण सड़ राष्ट्रीय सम विकास कार्यक्रम, सूखा क्षेत्र का विकास डीपीआईपी तथा ग्रामी आजीविका परियोजना में 265 करोड़ की राशि में से 221 करोड़ ही उपयोग में ल जा सके, यदि ग्रामीण विकास में 83 फीसदी ही काम हुआ, मध्यम एवं लघु सिंच परियोजना के लिए अबंटित 19 करोड़ में से 5 करोड़ की राशि लैप्स हो व सिंचाई विभाग केवल 77 फीसदी राशि का उपयोग कर सका। विधायक निधि त जनभागीदारी में आदिवासी क्षेत्र के लिए स्वीकृत 12 करोड़ 60 लाख का ही उपय किया गया। विधायक निधि की 50 फीसदी राशि खर्च नहीं हुई। कुल मिला आदिवासी उप योजना में 161 करोड़ 26 लाख रुपये लैप्स हो चुके हैं।

(जाकिर अ

●●●

# 5 सामाजिक बहिष्कार एवं भेदभाव

## क्यों हार गई सुमित्रा!*

जी हाँ, यह इस सदी की सच्ची कहानी है। अमानवीय पीड़ा, असहनीय अस्पृश्यता की कहानी। हम में से बहुत को एक छोटे बच्चे का मल उठाने में भी कोफ्त होती है लेकिन हमारे प्रदेश में आज भी हजारों की संख्या में हिंदुओं में वाल्मिकी और मुस्लिमों में हैला समुदाय के लोग मैला (मानव मल) ढोने का काम कर रहे हैं। प्रदेश के अनेक जिलों की तरह देवास में भी मैला ढोने का काम आम बात है। ऐसे ही एक महिला की कहानी जिसके हौसले समाज की जिद और कुंठाओं से हार गए।

देवास के बरोठा गाँव की सुमित्रा बाई की कहानी राजा–महाराजाओं के जमाने का सच नहीं है। बल्कि उस लोकतांत्रिक सदी की कड़वा घूँट है, जिसे सजग मानवीय मूल्यों, स्वतंत्रता, समानता का अलख जगाने वाले नारों के लिए याद किया जाता है। अमानवीय पीड़ा, असहनीय अस्पृश्यता की जीवित कथा। एक ही परिवार के सदस्यों में यह देखा जाता है कि एक छोटे बच्चे का मल उठाने में उसकी माँ के सिवा किसी की भी दिलचस्पी नहीं होती है, लेकिन हमारे देश, प्रदेश में आज भी बड़ी संख्या में हिंदुओं में वाल्मिकी और मुस्लिमों में हैला समुदाय के लोग मैला (मल) ढोने का काम कर रहे हैं। प्रदेश के अनेक जिलों की तरह देवास में भी मैला ढोने की कुप्रथा आम बात है। इतना ही नहीं बल्कि यह तो इस समाज में प्रतिष्ठा की बात है। जब भी शादी–ब्याह की बात होती है, तो आपस में यही बात होती है कि आपके पास कितनी जागीरें हैं। हालाँकि मैला ढोने का काम तेजी से कम हुआ है, लेकिन आज भी इनकी संख्या हजारों में है। जो इस समुदाय के साथ ही उन तमाम लोगों के लिए जो मानवीय सरोकारों के पैरोकार हैं, किसी चुनौती से कम नहीं है।

वाल्मिकी समाज के लिए वह घर जहाँ से मैला उठाया जाता है, एक "जागीर" के रूप में गिनी जाती है। जो असल में सवर्णो द्वारा किए गए ब्रेनवाश का

---

* दैनिक नई दुनिया में प्रकाशित

परिणाम है, जिसके पास जितनी ज्यादा जागीर वह उतना ही प्रतिष्ठित! इस आरोपित प्रतिष्ठा की जड़े इतनी गहरी हैं कि इसके खिलाफ जाने वालों को सवर्णों के साथ ही दलित समाज भी हाशिए पर डाल देता है। इस आत्मविश्वास दमन का सबसे बड़ा लाभ सवर्णो को यह होता है कि अगर किसी दमित मन के भीतर ऐसा साहस जन्म ले रहा हो तो वह वहीं दम तोड़ देता है। सुमित्रा की हार वास्तव में उन तमाम लोगों की हार है, जो सामंती विचारों के विरोध के लिए एकजुट होने का विचार रखते हैं। समाज से अस्पृश्यता जैसी बुराई को खत्म करने का ख्वाब रखते हैं।

बरोठा गाँव में वाल्मिकी समाज की सुमित्रा ने पुश्तैनी जागीरी को चुनौती देते हुए इस कुप्रथा के कुचक्र से बाहर निकले का हौसला जुटाया था। उसने गरिमा अभियान के सहयोग से दशकों इस काम को करने के बाद अंततः अपनी डलिया (जिसे सिर पर रखकर मैला उठाया जाता है) को इस आत्मविश्वास के साथ जला दी थी कि अब वह कभी मैला ढोने का काम नहीं करेगी। सुमित्रा ने बैंक से बीस हजार का लोन लेकर गाँव वालों के भारी विरोध को दरकिनार करते हुए कपड़े की दुकान शुरू की थी। सुमित्रा के साथ ही सामाजिक कार्यकर्ताओं को भी लगा कि यह पहल अब प्रदेश भर के लिए मिसाल का काम करेगी। लेकिन उत्साह, उमंग के बीच ये लोग भारतीय सामाजिक संरचना को पढ़ने में गलती कर बैठे। क्योंकि हमारे समाज में जाति जन्म के साथ ही शिशु के साथ इस तरह से चिपकी हुई है कि उसे उसकी मौत के बाद ही इससे मुक्त मिल पाती है। इस तरह जाति प्राथमिक योग्यता है।

इसीलिए, सुमित्रा की दुकान से छह माह तक एक साड़ी तो दूर एक ब्लाउज, पेटीकोट तक नहीं बिका। सुमित्रा पर दोहरी मार पड़ी, एक तो उसने जिन घरों में मैला ढोने का काम बंद किया, उन्होंने गाँव में उसका सामाजिक बहिष्कार शुरू कर दिया। उसे रोजमर्रा की चीजों के लिए गाँव से सामान मिलना बंद हो गया दूसरी ओर बैंक का कर्जा उस पर चढ़ता जा रहा था। डबडबाई आँखों को पोछते हुए सुमित्रा ने कहा, "दबंगों ने फरमान जारी कर दिया था कि इसकी दुकान से कपड़े नहीं खरीदे जा सकते क्योंकि यह श्मशान से चुरा कर लाती है।" दुकान में 100 से लेकर 300 रुपये तक की साड़ियाँ थीं। जिनको गाँव के लोग आसानी से खरीद सकते थे। बरोठा में वाल्मिकी समाज के ही 50 से अधिक घर हैं, लेकिन इसके बाद भी एक भी कपड़ा नहीं बिकने का मतलब स्पष्ट था कि सुमित्रा को गाँव के जमींदारों, अगड़ों के साथ ही वाल्मिकी समाज के लोग भी दोषी मानते थे।

अपनी बिरादरी की लीक, कायदे तोड़ने का कुसूरवार! उस पर अगड़ी जाति को नीचा दिखाने के नाम पर गालियों की बौछार होने लगी।

इसी समाज की क्रांति वाल्मिकी जो जनसाहस संस्था के साथ मिलकर मैला ढोने के खिलाफ आवाज बुलंद कर रही हैं, कहती हैं, "गाँव में असल नाराजगी सुमित्रा के उस हौसले के खिलाफ है, जो उसने विधवा होने के बाद भी दिखाई। एक विधवा को जब रंगहीन जीवन जीने का आदेश है, तो वह सुहाग की निशानी साड़ियाँ कैसे बेच सकती है। वह भी निचली जाति की भंगी औरत ऐसा कैसे कर सकती है। इसलिए दबंगों ने माना कि सुमित्रा को सबक सिखाना जरूरी था।" सुमित्रा के मैला ढोने के इनकार के केंद्र में बच्चे थे। क्योंकि उनको ही 'तेरी माँ मेहतरानी' जैसे ताने सुनने पड़ते थे। लेकिन दुकान बंद होने के बाद फिर से मैला ढोने के फैसले के पीछे भी बच्चे ही थे। रुआँसी होकर उसने कहा, "मेरे सामने दुकान बंद करने और डलिया उठाने के अलावा कोई रास्ता नहीं था। मैं एक माँ हूँ और बिना बाप के बच्चों को नाराज गाँव वालों का सामना करने के लिए नहीं छोड़ सकती थी।" इस तरह सुमित्रा की हिम्मत टूट गई। छह महीने के बाद उसने इंदौर जाकर दुकानदार से किसी तरह से गुहार लगाकर साड़ियाँ बीस प्रतिशत कम कीमत पर लौटाईं। अब बैंक के कर्ज का मर्ज। किसी तरह से पाँच हजार रुपये चुकाए और फिर बैंक जाकर अधिकारियों को दुकान बंद होने की बात बताई। इसे अफसरों की दरियादिली मानिए कि उन्होंने कर्ज की किस्तों को उसे अपनी सुविधा से अदा करने की छूट दे दी।

पचास बरस की सुमित्रा शाजापुर जिले से यहाँ ब्याह कर आई थी। हालाँकि मैला ढोना उसके लिए नई बात नहीं थी। अंतर इतना था कि मायके में कभी-कभी इस काम के लिए जाना होता था, जबकि यहाँ तो आते ही सास ने जागीर थमा दी। जिसे उसने 1990 से लगातार निभाया। अब एक बार फिर उसने अपनी जलाई गई डलिया की स्मृतियों को भुलाकर अपनी जागीरदारी संभाल ली है। सुमित्रा के पास इस समय पाँच घरों की जागीरदारी है। जरा उसकी कमाई भी देखें। एक घर के उसे पचास रुपये मिलते हैं। यानी महीने भर पाँच घरों का मैला उठाने के बदले में दो सौ पचास रुपये। सुमित्रा को पचास रुपये अब इस डर से लोग देने लगे हैं कि कहीं वह दुबारा काम बंद न कर दे। पहले तो उसे दस रुपये महीने के मिलते थे। चलते-चलते हमने सुमित्रा से पूछा कि क्या उसे पता है कि हमारा देश आजादी की साठवीं सालगिरह मना चुका है और कानूनन मैला ढोने जैसी प्रथा पर पूरी तरह से पाबंदी है। तो उसने कहा, "कैसी आजादी, हम तो अभी भी गुलाम हैं।" यह अकेली सुमित्रा के हौसलों के टूटने की कहानी नहीं है। पूरे प्रदेश में मैला ढोने से

विद्रोह करने वालों की कमोबेश यही दशा है। मानवाधिकार आयोग के एक सर्वे में प्रदेश में मैला ढोने वालों की संख्या सात हजार तक बताई गई है। सरकार, उसके अफसर ऑफ द रिकॉर्ड तो इसे स्वीकार करते हैं, लेकिन ऑन द रिकॉर्ड नहीं। क्योंकि यह संविधान प्रदत्त अधिकारों का खुलेआम उल्लंघन है। इसलिए जब वह मानती ही नहीं कि मैला ढोया जाता है, तो वह इनके लिए करेगी क्या। सीहोर, होशंगाबाद, पन्ना, हरदा, शाजापुर, मंदसौर, राजगढ़ के साथ ही भिंड, टीकमगढ़, उज्जैन समेत 13 से अधिक जिलों में मैला ढोने का काम करने वाला समाज बड़ी संख्या में है। इनकी अपनी आबादी इतनी अधिक नहीं है, जो किसी वोट बैंक के दायरे में आती है। यही कारण है कि वाल्मिकी और हैला दोनों ही समुदाय के लोग सामान्य नागरिक अधिकारों से भी वंचित हैं। उन्हें प्रतीक्षा है संविधान के उस वादे के यकीन में बदलने की, जिसमें लोक कल्याणकारी राज्य का वादा किया गया है।

वाल्मिकी समाज पर थोपे गए काम के रूप में कई काम है – परम्परागत रूप से मैला ढोने का काम, पक्के शौचालय बनने पर सफाई का काम, गाँव में हुई मौत की चिट्ठी लेकर उसके रिश्तेदारों के यहाँ जाना, मरे हुए कुत्ते, बिल्लयों को गाँव से बाहर फेंकना, सफाई के काम की अनिवार्य जिम्मेदारी जिससे इंकार करने पर जमकर पीटा जाता है और सामाजिक बहिष्कार कर दिया जाता है। वे दूसरी जाति के लोग साथ बैठकर भोजन नहीं करेंगे। स्कूलों में इनके बच्चे सबसे पीछे बैठते हैं। स्कूल की सफाई भी करते हैं। अनेक स्थानों पर मध्यान्ह भोजन के लिए घर से बर्तन लाना जरूरी होता है।

एक ओर सरकार सफाई कर्मचारी नियोजन और शुष्क शौचालय संनिर्माण (प्रतिषेध) अधिनियम 1993 का मैला ढोने से रोकने वाला कानून कहता है कि जो भी इस काम को करवाएगा, उसे इसकी सजा मिलेगी। जिसके अंतर्गत एक साल की कैद और 2000 रुपये का जुर्माना होगा। ऐसे ही दूसरे कानून भी हैं, जो मैला ढोने पर पाबंदी लगाते हैं। तो दूसरी ओर सरकार ने कुछ समय पहले ही उन बच्चों की छात्रवृत्ति बंद करने का निर्णय लिया है, जिनके माता–पिता ने यह काम बंद कर दिया है। इससे उन लोगों में भारी असमंजस है, जो यह काम छोड़ चुके हैं या फिर छोड़ना चाहते हैं, क्योंकि ऐसा करते ही उनके बच्चों की पढ़ाई का आधार समाप्त हो जाएगा। यह विचित्र विरोधाभास है, जिसका किसी अफसर के पास कोई जवाब नहीं है।

**(दयाशंकर मिश्र)**

•••

# बेटियों की जिस्मफरोशी से जिंदा समाज*

जिस तरह देश में मंदसौर अफीम उत्पादन, तस्करी के लिए मशहूर है, उसी तरह नीमच, मंदसौर, रतलाम के 77 से अधिक गाँव भी बाछड़ा समाज की देह मंडी के रूप में कुख्यात है। जो वेश्यावृत्ति के दूसरे ठिकानों की तुलना में इस मायनें में अनूठे हैं, कि यहाँ सदियों से लोग अपनी ही बेटियों को इस काम में लगाए हुए हैं। इनके लिए ज्यादा बेटियों का मतलब है, ज्यादा ग्राहक! ऐसे में जब आप किसी टैक्सी वाले से नीमच चलने के लिए कहते हैं, तो उसके चेहरे में एक प्रश्नवाचक मुस्कुराहट स्वतः तैर आती है। इस यात्रा में अनायास ही ऐसे दृश्य सामने आने लगते हैं, जो आमतौर पर सरेराह दिनदहाड़े कम से कम मप्र में तो कहीं नहीं देखने को मिलते। हाँ,, सिनेमा के रूपहले पर्दे पर जरूर कभी–कभार दिखते रहते हैं। पलक झपकते ही मौसम की शर्मिला टैगोर, चांदनी बार की तब्बू, चमेली की करीना आँखों के सामने तैरने लगती हैं।

महू–नीमच राजमार्ग से गुजरते हुए जैसे ही मंदसौर शहर पीछे छूटता है। सड़क किनारे ही बने कच्चे–पक्के घरों के बाहर अजीब सी चेष्टाएँ दिखने लगती हैं। वाहनों विशेषकर ट्रक, कारों को रुकने के इशारे करती अवयस्क, कस्बाई इत्र से महकती लड़कियों की कमनीय भाव–भंगिमाएँ इतनी प्रवीण हैं कि पहली बार यहाँ से गुजरने वाले यात्री हक्का–बक्का रह जाते हैं। इस देह की खुली मण्डी से गुजरना आसान है। रुककर देह की अतृप्त ग्रंथियों की वासना मिटाना सहज है। लेकिन किसी सेक्स वर्कर, महिला दलाल से बात हो जाए यह बेहद मुश्किल है। उनको पुलिस का डर नहीं है, क्योंकि वह इनकी पक्की हिस्सेदार है। किसी के देख लेने का डर नहीं, क्योंकि सारा काम सड़क के किनारे खुले में होता है। डर है, तो इस बात का कहीं टीवी चैनलों के स्टिंग ऑपरेशन में उनकी तस्वीर न दिखाई जाए। ग्राहकों को यह न लगे कि उनकी ऐशगाह असुरक्षित है। समुदाय में धंधे में लगी लड़कियों की संख्या पहले ही कम नहीं थी, उस पर से गरीबी, भुखमरी के चलते अब पड़ोसी जिलों, राज्यों से भी यहाँ पर जमकर लड़कियाँ लाई जा रही हैं। इनके माँ–बाप इन्हें एकमुश्त रकम देकर बेच जाते हैं या फिर तय अवधि में आते हैं और दलाल से उसके कमीशन, बेटी के रहने, खाने का खर्च काटकर उसकी कमाई ले जाते हैं। अर्थात् बेटी अपनी जिंदगी महज दाल रोटी के लिए नरक कर रही है। लेकिन ऐसी लड़कियों को स्थानीय बाछड़ा लड़कियों की भीड़ में पहचानना बेहद मुश्किल है, क्योंकि उनके इर्द–गिर्द सुरक्षा घेरा भी है।

---

* पी.एन.एन. न्यूज़ पोर्टल पर प्रकाशित

सड़क के किनारे बसे मल्लहारगढ़ में बड़ी मुश्किल से अधेड़ उम्र की भँवरीबाई बातचीत को तैयार हुईं। वैसे उन्होंने भी पहले उनके मकान की ओर मुझे आते देख एक तेरह बरस की लड़की को मेरी ओर लपकाया था। भँवरीबाई ने अपने समाज की व्यवस्थाओं, देह व्यापार से जुड़े सवालों पर लाजवाब़ साफगोई से बात की। साठ से अधिक की हो चली भँवरी को उनके परिवार ने तेरह की उमर में ही इस धँधे में उतार दिया था। वह कहती हैं कि हमारे समाज में सिसकियों, मिन्नतों का कोई मोल नहीं है। क्योंकि परिवार के मर्द चाहते हैं कि बेटियाँ धंधा करें ताकि वह रोजी की फ्रिक से दूर शराब पीने में मशगूल रह सकें।

बाछड़ा समुदाय में बेटियों से वेश्यावृत्ति करवाना बेहद आम रिवाज है। रतलाम, मंदसौर और नीमच जिलो के लगभग 77 गाँवों में यह कुप्रथा आज भी जारी है। इनमें कचनारा, रुंडी, परोलिया, सिमलिया, हिंगोरिया, मोया, चिकलाना आदि प्रमुख हैं। किसी को नहीं मालूम यह कब से चला आ रहा है, लेकिन जब बुजुर्ग महिलाएँ बताती हैं कि उनकी माँ, दादी, नानी भी धंधा करती थी, तो जाहिर है कि मामला दशकों का नहीं, सदियों का है। दूसरी ओर ज्यादातर पुरुष निठल्ले, शराबखोर ही मिलेंगे। उनके लिए इस बात के कोई मायने नहीं हैं कि उनकी अपनी बेटी/बेटियों को स्लेट, कापियों की उम्र में ग्राहकों को रिझाने के गुर सिखाए जाते हैं। मंदसौर से नीमच के बीच सड़कों के किनारे जिस्मफरोशी की जितनी दुकाने हैं, उससे अधिक दुकाने, अड्डे गाँवों के भीतर हैं। रास्ते से गुजरते वाहनों के सामने लिपस्टिक पोते, अपने उभारों को भरसक दिखाने की अधिक चेष्टा करती लड़कियाँ आपकी झिझक दूर करने की पूरी कोशिश करती हैं। ग्राहकों को लुभाने के प्रयास में जुटी ऐसी ही एक लड़की ने कहा, "साहब पहली बार आए हो! कोई बात नहीं, यहाँ पहली बार आने पर लोग ऐसे ही शर्माते हैं।" झिझक मिटने में अधिक देर नहीं लगती।

भँवरी की बातों में खांटी सच्चाई अनुभव की ताप है। उस अनुभव से उपजी पीड़ा की, जिसे न चाहते हुए भी वासना की भट्टी में झोंक दिया गया था। कमसिन उम्र में उसके नाजुक बदन को दिन–रात यहाँ से गुजरने वाले ट्रक चालकों और इलाके के सवर्णों के सामने परोस दिया गया। यह सिलसिला तब जाकर थमा, जब भँवरी के साथ उसके ग्राहक रामसिंह ने ही दिल मिलने के बाद; यहाँ यार होने के लिए यही जुमला चलता है, शादी कर ली थी।

एक औसत बाछड़ा लड़की की नियति यही है। जब तक वे ग्राहकों को रिझाने के काबिल होती हैं, उनके परिवार के मर्दों को यह कतई मंजूर नहीं होता कि लड़कियाँ घर (इसे कोठा पढ़ें) दहलीज पार करें। क्योंकि ऐसा करने से उनको हर महीने मिलने वाली मोटी रकम से हाथ धोना पड़ सकता है। अनेक प्रगतिशील

विचारों के धनी ऐसे भी हैं, जिन्होंने इस मोटे अर्थशास्त्र को समझा। यहीं बस गए। वेश्यावृत्ति करने वाली किसी लड़की से शादी कर ली फिर उसको तो इस धंधे से दूर रखा, लेकिन उसके नेटवर्क का भरपूर इस्तेमाल कर रहे हैं और उसकी दूसरी बहनों से धंधा भी करवा रहे हैं। चलिए इनको तो फिर भी बख्शा जा सकता है, लेकिन उन भाइयों, पिताओं को कैसे क्षमा किया जा सकता है, जो बहन, बेटी की रक्षा का दम भरते हैं। उससे रिश्तों की दुहाई देते हैं। फिर उसे विवश करते हैं कि वह अपने जिस्म से उनके लिए रोटियाँ सेंके। उसे मजबूर करते हैं कि वह तितलियों को पकड़ने, सपने बुनने की उम्र में ग्राहकों की बाहों में मसली जाएँ। एक ग्राहक के जाने के बाद दूसरे के लिए फिर सजकर रोड़ किनारे बैठ जाए।

बाछड़ा समाज अपनी बेटियों से ही धंधा करवाता है। इस काम में बहुओं को आमतौर पर नहीं उतारा जाता है। भँवरी जोर देकर कहती हैं कि बहुएँ पराए मर्द की ओर देख लें तो हमारे बेटे उनके हाथ–पाँव काटकर फेंकने से भी नहीं हिचकते हैं। वह आगे कहती हैं, "कमबख्त मर्द अपनी जोरू को संभल कर रखन चाहत हैं, और बेटी/बहन को पैदा होत ही ग्राहक का बिस्तर गरम करन को बिठा देत हैं।

कुल मिलाकर बाछड़ा समाज के लिए बेटी मोटी कमाई का सहज, सुलभ साधन है। परिवार के उदर पोषण के लिए रुपये लाने वाला विद्रोह की संभावना रहित, ईमानदार माध्यम। ग्राहकों को बुलाने और सौदा तय करने के काम में कहीं भी आपको कोई पुरुष नजर नहीं आएगा। इसे समाज के मर्दों की शान के खिलाफ समझा जाता है। यानी माँ और उसकी बेटी/बेटियाँ ही धंधे के समय घर के दरवाजे और ढाबों, होटलों के इर्द–गिर्द नजर आती हैं। इनकी जाति पंचायतों की बात और भी निराली है। जहाँ एक ओर दुनिया के सामने मंच से शरीर के सौदे की मुखालफत की जाती है, वहीं दूसरी ओर पंचायत, सरकारी अफसर इसे बढ़ावा देते रहते हैं, ताकि उनकी दुकाने बंद न हों। वैसे भी यह सारा धंधा मर्दों के आलस और उनके निकम्मेपन की ही देन है। मर्दों के पास चूँकि एक तय रकम होती है, इसलिए वह मेहनत–मजदूरी से परहेज करते हैं। एक ओर तो वह इस पेशे के लिए औरतों को ही जिम्मेदार मानते हैं, लेकिन दूसरी ओर इसी "औरत" (उनकी बहनों) के नोच–खसोट का पैसा वह बिना शर्म पीढ़ियों से डकार रहे हैं।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि लड़कियों के जन्म के समय ही यह तय कर लिया जाता है कि किस बेटी से धंधा करवाना है और किसकी शादी करनी है। चूँकि बाछड़ा समाज में दहेज वर पक्ष की ओर से दिया जाता है, इसलिए माँ–बाप के लिए लड़कियाँ दोहरा लाभ होती हैं। हालाँकि इधर कुछ वर्षों में धंधे में बढ़ रहे करोबार के कारण लड़कियों की शादी कम की जा रही है, पालकों को बेटी को धंधे

पर बैठाने में अधिक लाभ नजर आ रहा है। इसके कारण युवाओं को शादी के लिए लड़कियाँ मिलने में खासी दिक्कतें आ रही हैं।

किस बेटी को धंधे पर लगाना है, किसकी शादी करनी है, इसका फैसला बिटिया के पाँच बरस की होने तक हो जाता है। जिसकी शादी करनी होती है, उसकी सात बरस तक 50 से 75 हजार रुपये तक में सगाई तय कर दी जाती है। फिर इस लड़की से धंधा नहीं करवाया जाता, ऐसी लड़कियों को भट्‌टेकवारी के नाम से जाना जाता है और जिससे धंधा करवाना होता है, उन लड़कियों को खिलवारी के नाम से जाना जाता है। इस धंधे में लगे हुए लोगों के अनुसार खिलवारी बनाने का फैसला लड़कियों के नैन–नक्श के अनुसार किया जाता है। यानी जो लड़की सुंदर हुई, उसका भविष्य किस कदर अँधेरे की गर्त में जाएगा, इसकी कल्पना सहज ही की जा सकती है। आमतौर पर कहा जाता है कि वेश्यावृत्ति के मूल में गरीबी, अशिक्षा है, लेकिन यहाँ आकर तो यह तर्क भी गले से नहीं उतरता है, क्योंकि अनेक पढ़े–लिखे लोग इस काम को अपने घरों में अंजाम दे रहे हैं। उनके पास ऐसी संभावना, योग्यता है कि वह दूसरे पेशे को अपनाकर जीवनयापन कर सकें, लेकिन वह ऐसा करते नहीं हैं। क्योंकि उनके पास रोजगार का सबसे बढ़िया साधन है, उनकी बेटियाँ। इसी कारण वह ऐसी लड़कियों को भी इस धंधे में उतार देते हैं, जो पढ़ाई में जुटी हुई हैं। नीमच मार्ग पर ही बसे मुरली गाँव में एक ऐसे दंपति से मुलाकात हुई, जिनके तीनों बच्चे सरकारी सेवा में हैं, लेकिन उसके बाद भी वह दलाली के काम में लगे हुए हैं। इसी तरह सड़क किनारे एक होटल से सटे झोपड़ीनुमा मकान के बाहर चारपाई पर बैठकर ग्राहकों को बुलाने एक प्रौढ़ महिला की कहानी भी खासी रोचक है। उसने अपनी दो बेटियों, बेटे की शादी कर दी है और अब बाहर यानी उड़ीसा, राजस्थान से आने वाली लड़कियों की दलाली खाती हैं। वह इस बात को बेहद अभिमान के साथ कहती है कि उसने अपनी बेटियों को इस धंधे में नहीं उतारा, लेकिन उसके पास इस बात का कोई उत्तर नहीं है कि फिर इस दलाली में क्यों हाथ काले कर रही हो। दरअसल इस दलाली के न छूटने के पीछे दो कारण है। पहला मुफ्त की कमाई और दूसरा समाज में अपने आपको बनाए रखना। इस काम में यहाँ के पुरुषों की भूमिका बेहद अहम है, क्योंकि वही परिवार के नियंता हैं, और पूरी तरह से पर्दे के पीछे स्त्रियों को ही स्त्रियों की दलाली करने के लिए उकसाते मजबूर करते हैं।

बाछड़ा समुदाय पर काम कर रहे अनेक इस संगठनों और सरकार को यह बात चौंकाने वाली लग सकती है कि देह की इस मण्डी में अब राजस्थान और उड़ीसा की लड़कियाँ उतारी जा रही हैं। तेरह साल की अनीता हालात की मारी एक ऐसी ही बेबस है, जिसे राजस्थान से उसका परिवार यहाँ छोड़ गया है। यह

वही लड़की है, जिसे मेरी पीछे भँवरी बाई ने लपकाया था। वह दिन भर में कम से कम पाँच ग्राहकों की वासना को संतुष्ट करती है। यह सारा इलाका ऐसी हजारों लड़कियों से भरता जा रहा है। इसके साथ ही महाराष्ट्र में बड़ी संख्या में बार बंद होने से बेरोजगार होने वाली बार बालाओं के लिए भी यह राजमार्ग नया ठिकाना है। देह के कारोबार में तीस साल से अधिक बिताने के बाद उम्र के अंतिम पड़ाव पर जा पहुँची सेमरी बाई बताती हैं, "हम लोग अपनी बच्चियों को सात की उम्र से ही ग्राहकों को पटाने के तरीके सिखाने लगते हैं। यह समय लड़कियों के प्रशिक्षण का होता है। कम उम्र में उनके विरोध का खतरा नहीं होता और इनकी कीमत भी मोटी मिलती होती है।"

देह की इस मण्डी में उतारी गई लड़कियों की साक्षरता के बारे में कोई स्पष्ट आँकड़ा तो नहीं है, लेकिन इन दिनों अनेक ऐसी लड़कियाँ खुद को ग्राहकों के सामने परोसने में लगीं हैं जो दसवीं और बारहवीं की छात्राएँ हैं। अब वे इसके लिए तकनीक का भी भरपूर इस्तेमाल कर रही हैं। मोबाइल नम्बरों की पहुँच इंदौर के अनेक मालदारों तक है। जो कभी यहाँ आते हैं, तो कभी लड़कियों की आपूर्ति बिजनेस मीटिंग के लिए इंदौर आने वाले सफेदपोश लोगों के लिए होती है। वासना के प्यासे धनकुबेरों और वैश्वीकरण की कथित कमाई से फूल कर कुप्पा हुए लोगों के सामने देह की ऐसी मण्डी है, जिसका सारा कारोबार मासूम उम्र की लड़कियों के इर्द–गिर्द ही सिमटा है। जिनकी औसत उम्र नौ से पैंतीस साल है।

जिस तरह दिनदहाड़े सड़क पर बने कच्चे–पक्के मकानों में जिस्मफरोशी होती है, उससे जाहिर है कि पुलिस इस कारोबार में बराबर की हिस्सेदार है। बार–बार ग्राहकों, धंधा करने वालों को होने वाली दिक्कतों से अच्छा है एक मुश्त रकम एक बार दो। टेंशन फ्री होकर काम करो। पहरे में चलने वाले कारोबार का शाम गहराते ही नज़ारा ही बदल जाता है। दोपहर में सौ से दो सौ रुपये की माँग करने वाली लड़कियां बीस से पचास रुपये में ही राजी हो जाती हैं। वजह, रात को यहाँ कोई भी वाहन नहीं रुकता, साथ ही अब यहाँ लड़कियों की संख्या अधिक हो गई है, जिनके अनुपात में ग्राहक कम आते हैं। इस तरह रतलाम, मंदसौर, नीमच जिलों में बाछड़ा समुदाय की लड़कियाँ, महिलाएँ एक ऐसा जीवन जीने को अभिशप्त हैं, जो उनके अपनों ने ही उनके लिए चुना है। इसलिए उनके नारकीय जीवन से मुक्ति के लिए भी महिला नेतृत्व को ही आगे आना होगा।

**(दयाशंकर मिश्र)**

•••

# रीना के मास्टरजी*

नीमच से लगभग चालीस किमी दूर पीपल्या गाँव तक जाने का रास्ता उबड़–खाबड़, मुश्किलों भरा है। पीपल्या पहुँचने पर चाय वाले की दुकान पर चुस्कियों के बीच दुकानदार ने पूछा कहाँ जाना है। मैंने कहा, "वाल्मिकियों की बस्ती में।" सुनते ही वह सहम गया। "क्या आप भी।" मैं चुप रहा। कुछ घबरा कर उसने कहा, "पहले बताना चाहिए था, हम वाल्मिकियों को चाय नहीं देते। आप कौन जात हो!" मैंने अपना नाम बता दिया। सुनते ही घबराहट छू–मंतर। उसने दो–टूक सफाई दी, "माफ कीजिए, भंगियों को चाय पिलाने से दूसरे लोग नाराज होते हैं। हम अलग–अलग गिलास रखें तो भी उनके कारण ग्राहक टूटते हैं।" "सुना है, नाई भी उनके बाल नहीं काटते, उनको मंदिरों में जाने की इजाजत नहीं है।" उसने धीरे से कहा, "आप हैं कौन?" मैंने कहा – पत्रकार। उसने कहा, "जी हाँ, यह सब सच है, लेकिन इसमें मेरा दोष नहीं है, मुझे गाँव में रहना है, मैं गाँव के रिवाज से चलता हूँ।"

सूरज डूब चुका था, सन्नाटा पसर रहा था। लेकिन ऐसे में भी वाल्मिकियों की बस्ती तक जाना मुश्किल नहीं था। पता पूछते ही लोग रास्ते का इशारा कर देते और उनके चेहरे पर अजब सी नाराजगी, उलाहने का भाव होता। एक बड़े से मैदान के सामने वाल्मिकियों के बमुश्किल दस घर ही हैं। गाँव में इनको वाल्मिकी नहीं कहा जाता, क्योंकि उनके हिसाब से ऐसी कोई जाति है ही नहीं। उनके लिए तो यह लोग अछूत, अस्पृश्य भंगी, मेहतर हैं। गाँव का पुजारी शिकायत करता है, "यह कलयुग का असर है कि आप ब्राह्मण होकर उनके घर जा रहे हैं, उनके यहाँ पानी पिएँगे?" मेरे यह पूछने पर कि क्या वे मंदिर जाते हैं? वह नाराज हो गया, मैं आगे बढ़ चला। वाल्मिकि परिवारों को मेरे आने की खबर अब तक नहीं थी। जब उनको बताया कि मैंने उनके परिवारों की स्थिति विशेषकर महिलाओं और बच्चों के बारे में बात करना चाहता हूँ, तो उनको बेहद आश्चर्य हुआ। वैसे उनको सबसे अधिक अचरज मेरी जाति को लेकर था। कुछ हद तक यह उनके लिए उनकी अपनी दृष्टि में सम्मान का मामला था। मैंने बातचीत शुरू की। एक लड़की जो कि लगातार मुझसे सवाल कर रही थी, मैंने कहा – क्या नाम है, कौन सी क्लास में हो।

अचानक से वातावरण में मैंने कुछ घुटन महसूस की। लड़की के मुस्कराते चेहरे पर पहली बार कुछ बेचैनी दिखी। लेकिन उसके आत्मविश्वास में कमी नहीं दिखी। उसने कहा, "मेरा नाम रीना है और मैं स्कूल नहीं जाती!" "क्यों नहीं

---

*** अप्रकाशित**

जाती।" जब रीना की माँ ने कुछ बताना चाहा तो मैंने उनको रोकते हुए कहा कि रीना तुम खुद बताओ। रीना वाल्मिकी ने जो कुछ बताया वह कुछ यूँ है –

"स्कूल में बड़ी जात की लड़कियाँ मुझको भंगन कहती थीं और जब मैं पाटीदार मास्टर से इसकी शिकायत करती थी, तो वह कहते थे कि आदमी को अपनी औकात नहीं भूलनी चाहिए। तुम तो भंगी हो, यामें बुरा माणवे की कौन सी बात है। मास्टर साहब छोटी–छोटी बात में बाल खींचकर उठाते, भरपूर ताकत से पीठ पर मुक्के रसीद करते। मैं घर में यह सब बताती तो माँ कहती कि बेटा तेरी बड़ी बहन भी तो वहीं पढ़ी हैं। उसे भी सब सहना पड़े है। हमारी जात ही छोटी है, सो पढ़ाई के लाणे सब करना पड़े है। मैं सब सहती रही, झाड़ू लगाती रही, प्यासी रहकर पिटकर पढ़ती रही। पाँचवीं तक का सफर किसी तरह से गुजरा, मैं पिटने की अभ्यस्त हो गई, लेकिन इसी बीच एक दिन भारी गलती हो गई। सुबह से स्कूल की सफाई की, मैदान साफ किया, छोटे बच्चों में से एक ने पाठशाला में ही टट्टी कर दी, तो मास्टर ने मेरी ओर देखकर कहा, साफ कर दे। वैसे यह नई बात नहीं थी। यह सब पढ़ाई की सजा में शामिल था। दरअसल न तो गाँववाले यह चाहते थे कि मैं पढ़ूँ और न ही मास्टर। इसलिए हम बहनों के साथ यह सब हो रहा था।"

मास्टरजी के वीरता के किस्से सुनाते–सुनाते रीना का गला सूख गया। उसने कहा, "माँ पानी!" फिर आगे को बढ़ी... "यह सब करते दुपहरी हो गई। प्यास से गला सूख गया। इस बीच मास्टर ने कहा, आज देर तक रुकना है। कल बाहर से स्कूल जाँचने वाले आ रहे हैं, तू और तेरी जात के दूसरे बच्चे जाने से पहले साफ–सफाई कर देना। अगर गंदगी मिली तो यहीं नंगा करके पीटूँगा। वह हमें माँ बहन की गालियाँ भरपूर में देता था। मेरे चेहरे पर घृणा की परछाइयाँ तैरने लगीं, मैंने सहपाठियों से गुहार लगाई, पानी पिला दो, लेकिन जब किसी ने नहीं सुना तो मुझसे नहीं रहा गया। मैंने इधर–उधर देखा और हिम्मत करके मटके के पास जाकर लोटे से पानी निकाल लिया। मेरी किस्मत खराब थी, प्यास तो बुझ गई लेकिन एक ब्राह्मण के लड़के ने देख लिया। मैंने लाख मिन्नतें कीं, लेकिन उसका दिल नहीं पसीजा। उसने कहा, भंगन तूने हमारा मटका छू दिया। अब नया लाना पड़ेगा। मैं अभी मास्टर जी को बताता हूँ वह तेरी माँ–बहन एक करेंगे।" रीना ने थोड़ा रुकते हुए कहा, "सर, मैं गलियाँ नहीं बक सकती, लेकिन मेरा मास्टर और स्कूल के बच्चे बकते थे, जी भर कर।" "फिर क्या हुआ" अचानक से मेरे भीतर के अखबारी कीड़े ने बेसब्री से पूछ लिया, हालाँकि सवाल के तुरंत बाद ही मुझे अपनी गलती का अहसास हो गया।

दरअसल, जिंदगी की किताब पलटते हुए रीना थक गई थी।

"होना क्या था, लड़के ने मास्टर को बता दिया, फिर मास्टर पाटीदार माँ–बहन की गालियाँ देते हुए मेरी ओर दौड़ा और पहले घूँसे, फिर लातों से, उसके बाद तेल पिलाए गए डण्डे से, जो कि हम जैसे बिगड़े, कुजात वालों के लिए ही रखे जाते थे, मुझे इस कदर पीटा कि मैं अधमरी हो गई। पीटते–पीटते उसका हाथ दुखने लगा, लेकिन उसे संतोष नहीं हुआ। वह हाँफते हुए कुर्सी पर बैठ गया, बोला– कहाँ से इतनी ताकत लाती है, रांड। सब बच्चे घर गए। किसी ने माँ को बताया, वह दौड़ते हुए स्कूल गई और बहन के साथ मिलकर मुझे किसी तरह उठाकर घर लाई। लेकिन मास्टर से कुछ कहने की हिम्मत उसमें नहीं थी।"

अब तक रीना की आँखें भर आई थी, पहली बार भोगे हुए की पीड़ा उसके अंदर से आँखों के रास्ते छलकी। खुद को संभालते हुए उसने कहा... "सर, इसके बाद मैं स्कूल नहीं गई। माँ–बहन ने बहुत साहस देने का जतन किया, लेकिन मैं हिम्मत हार चुकी थी।"

रीना की तरह ही उसकी एक और बहन रानी को भी पढ़ाई छोड़ने के लिए विवश होना पड़ा। उसके साथ भी वही सब पाबंदियाँ थीं, जो कि रीना के साथ थीं। यह अकेली रीना की कहानी नहीं है। यह उस दीर्घ शोषण की एक लघु कथा भर है, जो सदियों से हमारे समाज का हिस्सा है। वाल्मिकियों, दलितों के शोषण और उनके सामाजिक बहिष्कार की अनंत कहानियाँ हैं। इनसे कायदे से दो मीठे बोल बोलना तो दूर, सीधे मुँह बोलने तक का रिवाज नहीं है।

उज्जैन जिले के तराना के अनवर अली जो मैला ढोने वालों को एकजुट करने और उनके हकों के लिए लोगों को लामबंद करने का काम कर रहे हैं, कहते हैं, "सबसे पहले तो मैला ढोने वालों को ही यह समझने की आवश्यकता है कि वे किसी भी मायने में दूसरों से कमतर नहीं है।" अनवर की बात इस पूरे विमर्श में सबसे अहम् है। क्योंकि अब तक इसी भावना को आधार बनाकर शोषण किया जाता रहा है। खुद अपने ही भीतर दूसरे समाजों से हीन, न्यून होने की भावना उनके विकास में सबसे बड़ी बाधा रही है। देश के प्रसिद्ध लेखकों में शुमार श्री ओमप्रकाश वाल्मिकी अपनी आत्मकथा 'जूठन' में सत्तर के दशक में स्कूलों में हुए अमानवीय व्यवहारों का सजीव चित्रण करते हैं। उन्होंने लिखा है कि किस तरह से अछूत चूहड़ा होने की वजह से अस्पृश्यता और अमानवीय यातनाओं का सामना करना पड़ा। उनके बचपन का शायद ही कोई ऐसा दिन बीता हो, जब उनको सवर्णों की वर्णभेदी नीतियों का सामना नहीं करना पड़ा हो। श्री वाल्मिकी को स्कूल के दिनों में अगड़ी जातियों की कुंठाओं का शिकार किस तरह होना पड़ा इसकी एक झलक जूठन के इस आत्मकथ्य से मिलती है,

''जब भी कोई आदर्श गुरू की बात करता है तो मुझे वे तमाम शिक्षक याद आ जाते हैं, जो हमारे जैसों को माँ–बहन की गालियाँ देते थे। सुंदर लड़कों के गाल सहलाते थे और उन्हें अपने घर बुलाकर उनसे वाहियातपन करते थे। एक रोज हेडमास्टर कलीराम ने अपने कमरे में बुलाकर मुझसे पूछा, ''क्या नाम है बे तेरा?'' ''ओमप्रकाश'' मैंने डरते–डरते धीमे स्वर में अपना नाम बताया। पूरे स्कूल में उनकी दहशत थी, हेडमास्टर को देखते ही बच्चे सहम जाते थे। ''चूहड़े का है।'' हेडमास्टर ने दूसरा सवाल उछाला। ''जी।'' ''ठीक है, सामने शीशम का पेड़ खड़ा है, उस पर चढ़ जा और टहनियाँ तोड़ के झाडू बणा ले। पत्तों वाली झाडू बणा, पूरे स्कूल कू ऐसा चमका दे, जैसा सीसा। तेरा तो यो खानदानी काम है। जा फटाफट काम पे लग जा।'' हेडमास्टर के आदेश पर मैंने स्कूल के कमरे, बरामदे साफ कर दिए। तभी वे खुद चलकर आए और बोले, ''इसके बाद मैदान भी साफ कर दे।'' लंबा–चौड़ा मैदान मेरे वजूद से कई गुना बड़ा था, जिसे साफ करने से मेरी कमर दर्द करने लगी थी। धूल से चेहरा, सिर सन गया था। मुँह के भीतर धूल घुस गई थी। मेरी कक्षा में बाकी बच्चे पढ़ रहे थे और मैं झाड़ू लगा रहा था! पानी पीने तक की इजाजत नहीं थी, पूरे दिन मैं झाडू लगाता रहा। तमाम अनुभवों के बीच कभी इतना काम नहीं किया था। वैसे भी घर में भाइयों का मैं लाड़ला था। दूसरे दिन स्कूल पहुँचा। जाते ही हेडमास्टर ने फिर झाडू के काम पर लगा दिया। पूरे दिन झाडू देता रहा; मन में एक तसल्ली थी कि कल से कक्षा में बैठ जाऊँगा। तीसरे दिन मैं कक्षा में जाकर चुपचाप बैठ गया। थोड़ी देर बाद उनकी दहाड़ सुनाई पड़ी, ''अबे, ओ कहाँ है तू। कहाँ  घुस गया बे। उनकी दहाड़ सुनकर मैं थर–थर काँपने लगा था। एक त्यागी लड़के ने चिल्लाकर कहा, ''मास्साब, वो बैठा हैं कोणे में। ''हेडमास्टर ने लपककर मेरी गर्दन दबोच ली थी। उनकी उँगलियों का दबाव मेरी गर्दन पर बढ़ रहा था। जैसे कोई भेड़िया बकरी के बच्चे को दबोचकर उठा लेता है। कक्षा से बाहर खींचकर उसने मुझे बरामदे में ला पटका। चीखकर बोले, ''जा लगा पूरे मैदान में झाड़ू, नहीं तो तुझे बाहर खड़ा कर दूँगा। भयभीत होकर मैंने तीन दिन पुरानी वही शीशम की झाडू उठा ली। मेरी तरह ही उसके पत्ते सूखकर झरने लगे थे। सिर्फ बची थीं पतली–पतली टहनियाँ। मेरी आँखों से आँसू बहने लगे थे। रोते–रोते मैदान में झाडू लगाने लगा। स्कूल के कमरों की खिड़की, दरवाजों से मास्टरों और लड़कों की आँखें छिपकर तमाशा देख रही थीं। मेरा रोम–रोम यातना की गहरी खाई में लगातार गिर रहा था। तभी संयोगवश मेरे पिताजी अचानक स्कूल के पास से गुजरे। मुझे स्कूल के मैदान में झाडू लगाता देखकर ठिठक गए। बाहर से ही आवाज देकर बोले, ''मुंशी जी, यो क्या कर रा है?'' वे प्यार से मुझे मुंशी जी ही कहा करते थे। उन्हें देख मैं फफक पड़ा। मुझे रोता देखकर बोले, ''मुंशी जी,

रोते क्यों हो? ठीक से बोलो, क्या हुआ है?'' मेरी हिचकियाँ बँध गई थ
हिचक–हिचककर पूरी बात पिताजी को बता दी कि तीन दिन से रोज झाड़ू लग
रहे हैं। कक्षा में पढ़ने भी नहीं देते। पिताजी को यह सब सुनकर बहुत क्षोभ हुअ
वह जो कुछ कर सकते थे, उन्होंने किया, लेकिन व्यवहार में बदलाव नहीं हुआ।''

यह सारा किस्सा दशकों पुराना हो गया है, लेकिन हमारा समाज आज भी न
बदला। रीना जैसे सैकड़ों बच्चे कथित आदर्श द्रोणाचार्यों के चलते शिक्षा
मौलिक अधिकारों से वंचित हैं। वे स्कूल में सबसे पीछे बैठने, शीशम के पेड़ से झा
बनाने, सफाई करने को विवश हैं।

मुझे पूरा यकीन है कि हमारे बहुसंख्यक समाज ने कभी भी ईमानदारी
दलितों विशेषकर उन पर जो मैला ढोने और जो कठिनतम सेवाओं में लगे हुए
कभी नहीं सोचा। हमारे देश में वैसे भी शिक्षा प्राचीन काल से ही राजे–रजवा
और कथित उच्च कुल के लोगों को ही सुलभ रही है।

राजे–रजवाड़ों के लिए शाही गुरुकुल होते थे तो जन सामान्य के लिए सरका
खर्चे पर चलने वाले स्कूल। हिंदुओं को आचार संहिता, धर्मपरायणता के निय
बताने वाली मनुस्मृति ने तो दलितों को स्कूल की ओर देखने तक से मना कर रख
था। ऐसा कहा जाता है कि हमारा संविधान समतामूलक है, उसमें किसी भी तर
के भेदभाव की मनाही है, लेकिन क्या उसमें इस तरह के भेदभावों से निपटने
मौलिक प्रावधान हैं। क्या यह बेहतर नहीं होता कि कल्याणकारी राज्य क
संकल्पना में जाति के वर्चस्व को नकारने वाले प्रावधान अधिक शक्तिशाली होते
ऐसा शायद इसलिए नहीं हो सका, क्योंकि महार जाति के अंबेडकर संविधान सभ
में अकेले थे, जो पूरे दिन स्कूल में प्यासे रहते थे। गाँधी सम्भवतः अकेले थे, जो इ
बात को महसूस कर सके, तभी तो एक बार उन्होंने सपना देखा कि एक हरिज
महिला भारत की पहली राष्ट्राध्यक्षा होगी और जवाहर लाल उसके सचिव होंगे
यह सपना सच नहीं हुआ। शायद इसलिए कि साम्राज्यी मिजाज वाला राष्ट्रपि
भवन किसी ऐसे को जगह नहीं दे सकता था जो साम्राज्यी साँचे में ढला न हो
(भूमकाल दिसंबर 1995)

काश कि ऐसा हो गया होता तो अंबेडकर से लेकर रीना तक लाखों बच्च
को अमानवीय पीड़ाओं से कुछ हद तक तो मुक्ति मिलती ही। क्यों आज तक किसी
ने द्रोणाचार्य अवार्ड पर आपत्ति नहीं ली। कैसे भारत की लोकतांत्रिक सरका
मिथकों पर आधुनिक उपलब्धियों को तौल सकती है। उन गुरु द्रोण के नाम प
शिक्षकों को अवार्ड दे सकती है, जिसने अपनी कमजोरी छिपाने के लिए दलित

एकलव्य का अँगूठा ही कटवा लिया। ऐसे गुरु का धर्मसंकट समझ से परे है, जो एक का जीवन लेकर दूसरे के कॅरियर को सँवारे। क्योंकि कोई भी न्यायशास्त्र यह नहीं सिखाता कि किसी ऐसे बच्चे से आप उसकी सबसे बड़ी ताकत ही छीन ले जिसने आपके स्कूल में दाखिला लिए बिना ही टॉप कर लिया हो। यह किस्सा जातिवादी संस्कारों के बहाने महाभारत से होता हुआ लोकतांत्रिक भारत तक आ पहुँचा है। जनता की चुनी सरकारों ने करोड़ों दलितों और कथित तौर पर अस्पृश्य करार दी जाने वाली जातियों को मौलिक अधिकारों से वंचित रखकर उनके अँगूठे काट लिए हैं। रीना जैसे बच्चों के दिमागों में जबरन स्कूल छुड़वाने के प्रयासों की कोई कमी नहीं है। जब भी इस तरह के मुद्दे सामने लाने बात होती है, हमारा समाज अपने तमाम जातिवादी संस्कारों के साथ उपस्थित हो जाता है। डॉ. भीमराव अंबेडकर ने जो कुछ सहा और जो कुछ रीना ने भोगा, उसके बीच समय के अतिरिक्त कुछ नहीं गुजरा। शेयर बाजार की कुलाँचे और विकास दर के रिकॉर्ड स्तर तक पहुँचने के पैमानों का लाभ चंद लोगों तक ही सिमटा हुआ है। बहुसंख्यकों ने कभी उस बात को स्वीकार ही नहीं किया कि उनके ही धर्म के लोग जो कि हिंदू ही हैं और उनके धर्म परिवर्तन पर भी तलवारें लटकी रहती हैं, उनको भी समान नागरिक अधिकारों के साथ जीवन जीने का अधिकार है।

देश में दलितों के अधिकारों के लिए व्यक्तिगत और औपचारिक से कानूनों की भरमार है, लेकिन सामुदायिक कानूनों का अभाव है। नीति के स्तर पर दार्शनिक और तर्कसंगत कानूनों की कमी है। वोटों की राजनीति में दलित मायावती के साथ ही तमाम दलित नेता बिना किसी सामाजिक दर्शन के राजनीति में उलझे हुए हैं। मायावती और उनके साथियों ने सामाजिक भेदभाव को बेहद नजदीक से भोगा हुआ है, लेकिन जैसे ही यह लोग सवर्णों के साथ सत्ता की भागेदारी करते हैं, या किसी भी तरह सत्ता में आते हैं, उसी समय इनका दलित चिंतन सत्ता की मजबूरी के रूप में बदल जाता है। इसलिए जब तक दलितों के भीतर एक ऐसा आत्मविश्वास विकसित नहीं होगा, जिसमें सवर्ण के साथ का मोह नहीं बल्कि उनकी बराबरी की बात हो, तब तक तमाम रीनाओं को स्कूल से निकाला जाता रहेगा और उसके लिए कहीं से कोई आवाज बुलंद नहीं होगी।

नोट : यह आलेख इस संकलन के लिए लिखा गया है।

(दयाशंकर मिश्र)

●●●

# 6 महिला एवं बाल स्वास्थ्य

## नर्सिंग होम : नियम न कायदा, बस फायदा ही फायदा*

प्रदेश में पिछले 9 वर्षों में लागू नहीं हो पाया नर्सिंग होम एक्ट। नर्सिंग होम के संचालन के लिए कोई नियम कायदा न होने से संचालकों को फायदा ही फायदा है।

नर्सिंग होम एक्ट लागू करने के सम्बंध में हाईकोर्ट ने प्रदेश सरकार को नर्सिंग होम संचालकों के साथ चर्चा करने के निर्देश दिए थे।

अपने दो वर्षीय बीमार बेटे रवि का इलाज कराने एक प्राइवेट नर्सिंग होम पहुँचे राधेश्याम को नर्सिंग होम संचालक ने बताया कि बच्चे को वेंटिलेटर पर रखना पड़ेगा। इस पर रोजाना करीब 3 हजार रुपये खर्च आएगा। राधेश्याम ने जब दूसरे नर्सिंग होम में पता किया, तो उसे वेंटिलेटर पर बच्चे को रखने का खर्च 6 हजार रुपये प्रतिदिन बताया गया। कोई विकल्प न होने से मजबूरी में राधेश्याम ने 3 हजार रुपये प्रतिदिन खर्च करना ही उचित समझा।

यह हालत है प्रदेश में मशरुम की तरह जगह–जगह खुल गए नर्सिंग होम्स की। यहाँ मरीजों से विभिन्न चिकित्सा सेवाओं के लिए मनमानी फीस वसूली जाती है। छोटे–छोटे भवनों में चल रहे कई नर्सिंग होम बिना नियम कायदों के संचालित हो रहे हैं। वर्ष 1997 में शासन ने इन पर नकेल कसने के लिए एक्ट को लागू करने के लिए नियम बनाया, पर नर्सिंग होम एसोसिएशन के बैनर तले नर्सिंग होम संचालकों ने एक्ट के नियमों के विरोध में हाईकोर्ट की शरण ले ली। अब 9 साल से मामला हाईकोर्ट में है। हालाँकि हाईकोर्ट ने राज्य सरकार को प्राइवेट नर्सिंग होम संचालकों के साथ बैठकर नियम बनाने के निर्देश दिए थे। नर्सिंग होम एक्ट लागू न होने से सरकार का इनके ऊपर कोई नियंत्रण नहीं है। कोई शासकीय मशीनरी इनका निरीक्षण नहीं करती। हालत यह है कि सरकार के पास यह जानकारी ही नहीं है कि प्रदेश में कितने नर्सिंग होम खुल गए हैं, किस नर्सिंग होम में कितनी

---

*दैनिक भास्कर में प्रकाशित

फीस वसूली जा रही है और मरीज को कैसा इलाज मिल रहा है। कोई केस बिगड़ने पर जब मरीज के परिजन विरोध करते हैं, तो नर्सिंग होम के संचालक एकजुट हो जाते हैं। जिला मुख्य चिकित्सा अधिकारी डॉ. बीएस ओहरी कहते हैं कि कोई अधिकार न होने से वे नर्सिंग होम का निरीक्षण नहीं कर सकते। नर्सिंग होम्स से कोई जानकारी सीएमएचओ कार्यालय नहीं भेजी जाती।

## क्या है नर्सिंग होम एक्ट

मध्यप्रदेश नर्सिंग होम एक्ट को 19 नवम्बर 1973 को पहली बार मध्यप्रदेश राजपत्र में प्रकाशित किया गया था। इस एक्ट की धारा 14 की शक्तियों का उपयोग करते हुए 1 अगस्त 1997 को मप्र राजपत्र में मप्र नर्सिंग होम एक्ट के नियम बनाकर प्रकाशित किए गए।

## नर्सिंग होम के लिए नियम

नर्सिंग होम किसी खुले मल, नाले या सार्वजनिक शौचालय अथवा धुआँ छोड़ने वाले कारखाने के पास नहीं होना चाहिए। कक्ष अच्छे और हवादार, प्रकाश युक्त स्वच्छ और स्वास्थ्यकर स्थिति में हो। प्रसूति कक्ष एवं शल्य क्रिया कक्ष को रोगाणुमुक्त रखा जाए। कक्ष में एक बिस्तर के लिए फर्श स्थान 100 वर्गफुट और प्रत्येक अतिरिक्त बिस्तर के लिए 75 वर्गफुट स्थान। प्रसूति कक्ष व शल्य क्रिया कक्ष के लिए कम से कम 180 वर्गफुट फर्श स्थान। मरीज के लिए पलंग, गद्दा, चादर, तकिया, स्टूल, मच्छरदानी होनी चाहिए। 20 बिस्तर के लिए चार नर्स, 10 बिस्तर पर 3 नर्स जरूरी। 15 बिस्तर पर एक डॉक्टर और 45 बिस्तर से कम होने पर कम से कम 3 डॉक्टर। ओपीडी में आने वाले 40 मरीजों के लिए एक डॉक्टर। चिकित्सा सेवाओं के शुल्क की सूची प्रदर्शित करना होगा।

**(रानी शर्मा)**

•••

# कैसे मिले दवा, मरीज हुए दोगुने बजट हुआ आधा*

चार साल में जिला अस्पताल और उससे जुड़ी 21 डिस्पेंसरी में आने वा मरीजों की संख्या लगभग दोगुनी हो गई है। वहीं मरीजों की दवाओं के लि आबंटित की जाने वाली बजट की राशि आधे से भी कम हो गई। ऐसे में मरीजों को जरूरी दवाएँ न मिलकर महज दवा देने की औपचारिकता पूरी की जा रही है। जेपी अस्पताल और उससे जुड़ी डिस्पेंसरी दवाओं के लिए वर्ष 2002–03 में शासन से करीब साढ़े 96 लाख रुपये का बज आबंटित किया गया था। जो वर्ष 2005–06 में घटते–घटते मात्र 40 लाख रह ग है। वहीं जिले की आबादी में वृद्धि होने से अस्पताल आने वाले मरीजों की संख बड़ी है। वर्ष 2002 में 2 लाख मरीज ओपीडी में आए थे। जो वर्ष 2005 बढ़ते–बढ़ते 3 लाख 64 हजार हो गए। दवाओं का बजट दिसम्बर 05 में समाप होने पर जिला अस्पताल प्रबंधन ने शासन से वर्ष 06 में जनवरी से अप्रैल तक लिए 20 लाख के बजट की माँग की थी। इसके स्थान पर मात्र 3 लाख 42 हज रुपये दिए। 4 साल में दवाओं की कीमत बढ़ने से कई महँगी दवाओं का नाम लिस से हटाकर उनकी जगह सस्ती दवाओं का नाम शामिल हो गया। अस्पताल औ डिस्पेंसरी में पहले करीब 7–8 प्रकार की एंटीबायोटिक और 3–4 तरह की द निवारक दवाएँ उपलब्ध रहती थी। बजट की कमी के चलते वर्तमान में मात्र 1– प्रकार की एंटीबायोटिक व दर्द निवारक दवाएँ ही उपलब्ध हैं। सूत्र बताते हैं वि जिले में दवाओं के लिए शासन से जो बजट मिलता है। उसमें से ही विधानसभ डिस्पेंसरी में विधायक–मंत्री को दवाएँ खरीद कर दी जाती हैं। जिस पर करीब लाख रुपये खर्च हो जाते हैं। जेपी अस्पताल में सिविल सर्जन डॉ. डीके वर्मा बताया कि बजट की कमी से कुछ दवाओं की कमी है। इस सम्बंध में स्वास्थ आयुक्त अशोक वर्णवाल ने आश्वासन दिया है कि जल्दी ही दवाओं के लिए 8–1 लाख के बजट की व्यवस्था अन्य स्वास्थ्य कार्यक्रमों से कराएँगे।

| जिले में मरीज और दवा के बजट की स्थिति | | | |
|---|---|---|---|
| वर्ष | बजट | ओपीडी | भर्ती |
| 2002–03 | 96.50 | 201618 | 18220 |
| 2003–04 | 47.50 | 257059 | 18540 |
| 2004–05 | 42.50 | 302103 | 19331 |
| 2005–06 | 40.00 | 364428 | 18887 |

(रानी शम

●●●

* दैनिक भास्कर में प्रकाशित

# औरत के जिंदा रहने के अधिकार का सवाल*

**महिला दिवस (8 मार्च) का संकल्प यह हो कि महिलाओं को उनके वास्तविक अधिकार मिलें और गर्भ में मासूम कलियाँ यूँ ही न कूचली जाये।**

अंतर्राष्ट्रीय महिला दिवस (8 मार्च) पर एक बार फिर महिला अधिकारों की चर्चा जोर–शोर से की जाएगी। वास्तव में इस दिवस को मनाने का उद्देश्य तो तब पूरा होगा, जब हम महिलाओं को उनके वास्तविक अधिकार देंगे। क्लारा जेटकिन ने 1899 में पेरिस में आयोजित अंतर्राष्ट्रीय मजदूर कांफ्रेंस में महिलाओं के समान अधिकार की माँग की थी। इसके बाद 8 मार्च 1908 में उनके नेतृत्व में चालीस हजार महिलाओं ने काम के निश्चित घंटे और समान मजदूरी की माँग की। इन महिलाओं को दमन का सामना करना पड़ा। 1910 में कॉपेनहेगन में क्लारा जेटकिन के नेतृत्व में अंतर्राष्ट्रीय समाजवादी महिला कांफ्रेस हुई और महिलाओं को मत देने के अधिकार की माँग की गई। इसी सम्मेलन में 8 मार्च को महिला दिवस के रूप में मनाने का निर्णय लिया गया।

दुनिया में आज महिलाएँ काफी हद तक अपने–अपने हक एवं अधिकार पाने में सफल हुई हैं, लेकिन वे अब भी बराबरी का दर्जा हासिल नहीं कर पाई हैं। सामाजिक कुरीतियों के कारण कम से कम भारत में आज महिला के अस्तित्व को ही संकट पैदा हो गया है। गर्भ में शिशु के आते ही समाज के क्रूर हाथ सोनोग्राफी मशीन के द्वारा भ्रूण की पहचान करके उसे जन्म लेने से पहले ही समाप्त कर देते हैं। भारत में 1901 में प्रति हजार पुरुषों पर महिलाओं का अनुपात 972 था, जो वर्ष 2001 में मात्र 933 रह गया। यह 39 लड़कियाँ कहाँ, गायब हो गई? सब जानते हैं कि यह आँकड़े भविष्य में आने वाली भयानक स्थिति की चेतावनी दे रहे हैं।

दरअसल हमारे समाज में बेटे को भविष्य का कर्णधार माना जाता है। परलोक सुधारने का जिम्मा बेटों के हाथ में होता है। पुरुष शासित समाज में महिलाओं को कदम–कदम पर भेदभाव झेलना पड़ता है। माता–पिता बेटे को यह सोचकर महत्व देते हैं कि बुढ़ापे में उनका सहारा बनेगा। वंश परम्परा भी बेटे से चलाई जाती है। बचपन से लड़के लड़कियों के बीच भेदभाव शुरू होता है। खान–पान, पहनावा, शिक्षा और अन्य बातों में बेटे को प्राथमिकता दी जाती है। कन्या भ्रूण हत्या समाज पर पुरुष के एकाधिकार का नतीजा है। लोग भूल रहे हैं,

---

* दैनिक भास्कर में प्रकाशित

अगर औरतों के जीने का अधिकार खत्म हो जाएगा, तो मानव जाति का अस्तित्व कैसे बचा रह सकेगा।

आखिरकार कन्या भ्रूण की हत्या करने का दबाव महिला पर डालने वाला पुरुष कभी इस बात पर विचार करता है कि यदि उसे जन्म देने वाली माँ के अस्तित्व को गर्भ में समाप्त कर दिया गया होता, तो क्या वह पुरुष इस सुंदर प्रकृति को देख पाता?कई उच्च शिक्षित लोग यह भी कह सकते हैं कि आखिरकार महिला कन्या भ्रूण की हत्या करवाने को राजी क्यों हो जाती है? सामाजिक दबाव, कुरीतियों और पति के दबाव के आगे कई महिलाएँ इस घिनौने कृत्य को करने के लिए इसलिए मजबूर हो जाती है, क्योंकि ऐसा न करने पर उनके जीवन को ही नर्क बनाने की धमकी मिलती है। सामाजिक दबाव में सबसे बड़ा कारण दहेज जैसी कुरीति है। लड़के का जन्म होने पर यह मान लिया जाता है कि वह तो एक तरह से चेक है। विवाह के समय दहेज लेकर उसे कैश करा लिया जाएगा।

बदले हुए हालात में संवेदनशील पुरुषों और महिलाओं को अपने व समाज के अस्तित्व को बचाने के लिए एक व्यापक आंदोलन छेड़ने की जरूरत है। आखिरकार जब एक नन्हीं कली को ही क्रूर समाज के लोग गर्भ में ही मार देंगे तो क्या सम्भव है कि इस समाज का अस्तित्व कायम रह पाएगा। अपने पुत्र–पुत्री को एक समान प्यार–दुलार देकर विकास करने के लिए समान व स्वच्छ माहौल देना होगा। तभी एक सुंदर, सुशिक्षित व विकसित समाज का निर्माण करना सम्भव होगा।

**(रानी शर्मा)**

●●●

# मप्र में जहाँ इलाज और न्याय के रोंगटे खड़े कर देने वाले उपाय हैं जारी*

**इलाज के लिए लोहे से दागे जाते हैं बच्चे खटिया से ढूँढ़ा जाता है दोषी**

यह रूह को हिला देने वाली खबर थी। उस भयावह त्रासदी पर सोचकर ही लगा सैकड़ों साल पहले के समाज की कुछ तस्वीरें अब भी जिंदा हैं। घटना घट रही हैं हमारे आस–पास ही कहीं। एक नन्हीं सी जान के छोटे से शरीर पर इलाज के नाम पर लोहा गरम करके पचासों जगह दाग दिया जाना। सुनकर पहले तो यकीन नहीं हुआ। पर मित्र ने अपनी आँखों से इस बेरहम इलाज के उन जख्मों को देखा था। सुनकर उसी पल लगा चलकर देखना चाहिए। दफ्तर से तुरंत छुट्टी ना मिल सकी। दो दिन बाद जाने का कार्यक्रम तय हुआ।

यह एक आदिवासी शिशु था। दो साल की उम्र में वजन चार किलो तीन सौ ग्राम। देखने में सात–आठ माह के शिशु से अधिक आयु का नहीं लगता था। होशंगाबाद जिले के सिवनी मालवा ब्लॉक में एक छोटे से गाँव के आदिवासी समाज में पैदा होने की सजा उसे कुछ यूँ मिली थी, जिसकी गवाही उसका शरीर चीख–चीखकर दे रहा था। वैसे तो आदिवासियों की अपनी परम्पराएँ हैं, अपना समाज है, अपने रीति–रिवाज हैं और अपना इलाज भी है। प्रकृति पूजक आदिवासी समाज जंगलों की एक–एक वनस्पति की खासियत और उपयोगिता को बारीकी से जानते हैं, पर इन्हीं रीति–रिवाज और इलाज के कुछ स्याह पक्ष भी हैं। तभी तो इसी समाज में जादू–टोने के नाम पर आपराधिक मामलों की खबरें अब ज्यादा तीव्रता से सुनाई दे रही हैं। बैतूल जिले के कुछ गाँवों में खटिया चलाकर दोषियों को पकड़ने की अजीब सी परम्परा हैं। इसमें एक बाबा खटिया पर बैठकर पूरे गाँव में घूमता है। जिसके घर के आगे खटिया रुक गई, वह दोषी। इसमें कई बार निर्दोष लोगों को सजा भुगतनी पड़ती है और फिर यह अँध आस्था भी है, जिस प्रदेश के सौ में साठ फीसदी बच्चे उचित भोजन, आहार–विहार और परवरिश ना मिल पाने के कारण कुपोषित हों वहाँ उन्हें स्वस्थ करने के लिए ऐसी मान्यताओं का पाया जाना सचमुच अत्यंत दुखद है। मप्र में साठ हजार आँगनबाड़ियों के माध्यम से बच्चों का टीकाकरण और पोषणआहार के समुचित इंतजाम किए गए हैं। लेकिन आज भी प्रदेश का हर बच्चा इसके दायरे में नहीं आ पाया है। ऐसा करने के लिए प्रदेश में एक लाख से अधिक आँगनबाड़ियाँ होनी चाहिए। लेकिन सरकार की सुस्त रफ्तार और जवाबदेही के अभाव में समय बीत गया और बीस हजार स्वीकृत आँगनबाड़ियाँ ही नहीं खुल पाईं।

---

*** मेरी खबर डॉट कॉम न्यूज पोर्टल पर प्रकाशित**

आदिवासी इलाकों में जागरूकता और सुविधाओं की कमी के चलते तमाम टीकाकरण, स्वास्थ्य जाँच और योजनाओं के प्रचार–प्रसार के बाद भी नवजात शिशु को गुड़ चटाकर संतोष कर लिया जाता है। और इसके बाद भी स्वस्थ नहीं होता तो उसे लोहा गरम करके कुछ खास जगह दाग दिया जाता है। इस प्रक्रिया को डम रखना कहते हैं। मनुष्यों के साथ यह पालतू मवेशियों पर भी व्यापक रूप से आजमायी जाती है। सुई से लेकर हँसिया तक इसमें प्रयोग होते हैं। दीपावली के ठीक दूसरे दिन भी पालतू गाय, बैल, भैंस को हँसिया गरम करके परम्परागत रूप से चिकाया जाता है।

मुंशी कोरकू का दो वर्षीय बच्चा भी कुछ ऐसे ही दंश का शिकार हुआ था। टोले के ही लोगों के कहने पर उसे दूसरी बार लोहे से दागा गया था, एक दो नहीं, कोई पचासों जगह पर निशान थे। हालत ज्यादा बिगड़ गई तो उसे सामुदायिक स्वास्थ्य केन्द्र में भर्ती कराया गया। कोई पन्द्रह दिन के सतत् इलाज के बाद उसकी हालत खतरे से बाहर थी। हास्पिटल पहुँचा तब तक उसे वहाँ से विदा कर दिया गया था। ब्लॉक मुख्यालय से तकरीबन पन्द्रह किलोमीटर की दूरी पर उसका गाँव था। अमलाड़ा। इस गाँव का भूगोल अन्य गाँव की अपेक्षा कुछ अलग ही है। चारों तरफ नदी से घिरकर यह एक टापू पर बसा है। बारिश के तीन–चार महीने मुश्किल में बीतने वाले होते हैं। बाकी दुनिया से जुड़ने के लिए तेज गति से बहते पानी में नाव के सहारे जान जोखिम में डालने की कवायद। चार महीने का राशन–पानी और अन्य व्यवस्थाएँ पहले ही करके रखनी होती हैं। इस साल नदी का पुल बन जाने से इस गाँव सहित लगभग दस गाँव के लोगों को राहत मिली है। गाँव में पहुँचकर मुंशी कोरकू के घर का पता पूछा गया। पान दुकानदार ने बताया, "यहाँ इस नाम का कोई आदमी नहीं रहता।" उधर बच्चे की साथ हुई इस घटना के बारे में भी किसी को पता नहीं था। गाँव में एक उप स्वास्थ्य केन्द्र भवन था। भवन के मुख्य द्वार पर लटका ताला दूरस्थ इलाकों में स्वास्थ्य सेवाओं की उपलब्धता को ठेंगा दिखा रहा था। खैर गाँव के सरपंच उपाध्याय और सचिव मदन तँवर को भी ऐसी किसी घटना की जानकारी नहीं थी। दरअसल मुंशी कोरकू अमलाड़ा से चार किलोमीटर दूर आदिवासियों के एक टोले में रहता था। परिवार सहित मजदूरी की आस में कभी इस गाँव और कभी उस गाँव उसका डेरा रहता है। उसके घर तक पहुँचकर भी वह मिल नहीं सका। अपनी रोजी–रोटी के लिए उसका कोई स्थाई घर नहीं है। लेकिन उसके ढाने में अपने अधिकारों से वंचित बचपन नजर आ रहा था। किसी बच्चे का पेट असामान्य आकार लिए तो किसी के दोनों पैर आपस में चिपके हुए। धूल–मिटटी से सने हुआ बचपन। गाँव में ना आँगनबाड़ी थी और ना कोई पोषणआहार। अपने बुनियादी अधिकारों से वंचित बचपन धूल में सना सिसक रहा था।

**(राकेश मालवीय)**

●●●

# सहरिया परिवार में जन्म का मतलब कुपोषण से मौत*

## कलेक्टर से गुहार के बावजूद नहीं बचा सका बेटे को

कुपोषण का दंश झेल रहे सहरिया बाहुल्य जिले में बच्चों को पोषण आहार नहीं मिल पा रहा है। पिछले दिनों जिले की कंचनपुरा निवासी प्रताप सहरिया की ढाई साल की गुड्डी की मौत कुपोषण की अगली शिकार थी। उसके दस साल के बेटे महेन्द्र को भी कलेक्टर जीके सारस्वत से गुहार लगाने के बाद ही उचित इलाज मिल सका। यूँ तो सहरिया बाहुल्य इस जिले में कुपोषण दूर करने के लिए योजनाएँ चलाई जा रही हैं लेकिन स्थिति इसके बावजूद नियंत्रण में नहीं आ पा रही है। गुना जिले में दसवें बाल संजीवनी अभियान में 1166 बच्चे गंभीर कुपोषण का शिकार पाए गए हैं।

सहरिया आदिवासियों को देश की सबसे विपन्न परिस्थितियों में रहने वाली जनजाति के रूप में स्वीकार किया जाने लगा है। मध्यप्रदेश के आठ जिलों में रहने वाले पाँच लाख सहरिया आदिवासियों में एक भी बच्चा युवा या परिवार पहचानना मुश्किल है, जो कुपोषण या खून की कमी से ग्रस्त न हो। रीजनल मेडिकल रिसर्च सेंटर फॉर ट्राइबल की सहरिया जनजाति पर की गई स्टडी के नतीजे बताते हैं कि इस जनजाति के 93 फीसदी बच्चे कुपोषण का शिकार हैं। इनमें भी लगभग पंद्रह फीसदी बच्चे तो ऐसे हैं जो कभी भी मौत के मुँह में समा सकते हैं। गुना जिले के ही गढ़ला गाँव सहरिया बाहुल्य है। इस गाँव में आँगनबाड़ी की हालत खराब कही जा सकती है। गढ़ला पंचायत के सविच राजहंस स्वामी कहते हैं कि उनकी पंचायत में सात गाँव आते हैं। सभी गाँव आ़पस में डेढ़ से चार किमी तक की दूरी पर हैं। सभी गाँव सहरिया बाहुल्य होने के बावजूद आँगनबाड़ी केवल गढ़ला में ही है। जबकि आसपास की देवरी डांग की जनसंख्या 546, ओखरीखेड़ा की 56, भिलेरा की 193, ओखरीखेड़ा की 56, झिर की 270, मितेपुरा की 144 और जैतपुरा की 165 है। गढ़ला गिर्द की आँगनबाड़ी कार्यकर्ता पानबाई बताती हैं कि इन छह गाँव के बच्चे इतनी दूर आँगनबाड़ी में नहीं आते और उन्हें पोषण आहार भी वितरित नहीं हो पाता है। देवरी डांग गाँव के कोकसिंह और कमलेश बाई बताते हैं कि उनके गाँव में पाँच साल तक के करीब साठ बच्चे हैं लेकिन वह रोज इतनी दूर आँगनबाड़ी में नहीं जा सकते और उन्हें पोषण आहार नहीं मिल पाता है। बड़वानी जिले स्वास्थ्य के मुद्दे

---

* मेरी खबर डॉट कॉम न्यूज़ पोर्टल पर प्रकाशित

पर काम कर रही सेहत संस्था के एक अध्ययन में पाया गया कि 80 प्रतिशत भी
आदिवासी कुपोषण का शिकार हैं। आदिवासी समाज की व्यथा इसलिए औ
त्रासद है क्योंकि जंगल में रहने वाले इस समाज को जंगल से बेदखल किया गय
वक्त के साथ प्राकृतिक संपदा भी घटती गई और उनकी जंगल से उन्हें वह स
नहीं मिल पाता जिसके जरिए वह अपना पेट पाल लिया करते थे। अब हालात यह
हैं कि उनके पास न तो प्राकृतिक संपदा हैं और न पर्याप्त संसाधन जिनके जरि
वह अपना और बच्चों का पेट भर सकें। यही कारण है कि 1960 के बाद सहरिय
आदिवासियों में कुपोषण और एनीमिया का स्तर तेजी से बढ़ना शुरू हुआ। सहरिय
आदिवासी बाहुल्य गाँवों में प्रवेश करते ही आदिवासियों की हालत खुद ही सारी
स्थिति बयाँ कर देती है।

मप्र में पहले दूसरे और तीसरे राष्टीय परिवार सर्वेक्षण के नतीजे इस दिशा में चलाए जा रहे तमाम प्रयासों पर सवाल उठाने के लिए काफी हैं। प्रदेश में दूसरे और तीसरे सर्वेक्षण के दौरान कुपोषण 6 प्रतिशत बढ़ गया। जबकि उत्तरप्रदेश में इसके उलट 9 फीसदी, छत्तीसगढ़ जैसे राज्य में 9 फीसदी, राजस्थान में सात प्रतिशत, महाराष्ट्र में दस प्रतिशत गिरावट दर्ज की गई। आखिर ऐसा क्या हुआ इन राज्यों में। यह मप्र में संभव क्यों नहीं हो पाया। देश में कुपोषण के मामले में अव्वल होने का कलंक प्रदेश के सिर पर कब तक रहेगा और इसके लिए जिम्मेदार कौन है?

**(राकेश मालवीय)**

●●●

# विस्थापन से बदहाल हुआ बचपन*

विस्थापन की सुनामी लहरें नए हरसूद में अब भी कहर ढा रही हैं। साढे तीन साल पहले बसाए गए हरसूद शहर और 250 गाँवों के लोगों को बुनियाद सुविधाएँ मुहैया नहीं हो पाई हैं। इनमें सबसे ज्यादा बुरी स्थिति बच्चों की है। स्वास्थ्य, शिक्षा, संरक्षण के बुनियादी हक से तो वह महरूम हैं ही, मानसिक पीड़ा से भी गुजर रहे हैं।

हरसूद के वाशिंदों की पटरी से उतरी गाड़ी आज तक रफ्तार नहीं पकड़ पाई है। हरसूद का समृद्ध बाजार तो देश के सबसे बड़े जलाशय होने के गौरव तले एक काला अध्याय बन गया, इससे हरसूद के बाइस हजार लोगों की रोजी–रोटी पर संकट अब और गहराता नजर आ रहा है। नए हरसूद में पक्के मकान और भव्य मकान तो हैं लेकिन रौनक गायब, दुकानें हैं ग्राहक गायब, लोग हैं लेकिन दशकों के रिश्ते गायब, स्कूल हैं लेकिन विद्यार्थी गायब, कोलतार की काली सड़कें बिछी हैं लेकिन उनकी चहल–पहल गायब, चौपाटी पर लगने वाली शाम की रौनक गायब, नए हरसूद की फिज़ा में हर साँस लेने के साथ ही एक अजीब किस्म की बैचेनी भी अंदर समा रही होती है।

सभ्य समाज के जिन पैमानों पर विकास की परिभाषा लिखी और गढ़ी जा रही है उसने सात सौ साल पुराने एक हँसते–खेलते शहर को बर्बादी की कगार पर तो लाकर खड़ा कर ही दिया। डूबते हरसूद के दर्द पर बहुत इतने पन्ने काले किए जा चुके हैं कि लिखने के लिए बहुत कुछ नहीं रह जाता। लेकिन अब स्थिति पहले से भी ज्यादा खतरनाक और जानलेवा होती जा रही है। यही स्थिति रही तो वह वक्त दूर नहीं जब यहाँ से लोगों की आत्महत्याओं की खबरें मीडिया की ब्रेकिंग न्यूज बनेंगी। नए हरसूद की अर्थव्यवस्था और बाजार बिलकुल भी जोर नहीं पकड़ पाया है, सबसे ज्यादा खतरनाक स्थिति उन छोटे–मोटे उद्योग–धंधों की है जो हर दिन अपनी मेहनत से दो जून की रोटियाँ कमा लेते थे। हालात यह हैं कि सरकारी मुआवजे का बड़ा हिस्सा तो नए हरसूद में अपना बसेरा बनाने में ही खर्च कर दिया और बचा–खुचा धीरे–धीरे साढ़े तीन सालों में अपनी जरूरतों पर। अब स्थिति यह हैं कि सेक्टर नौ, सेक्टर चार सरीखे गरीब आबादी वाले इलाकों के घरों में चूल्हे से एक ही टाइम धुँआ उठता दिखाई दे रहा है।

---

*** अप्रकाशित**

जिस बिजली और पानी के नाम पर इतने बड़े शहर और गाँवों की आबादी को ठोकर मारकर बेदखल किया गया, बलिदान के उन्हीं वीरों को न तो चौबीस घंटे बिजली मुहैया हो पा रही है और न रोज पानी। इस मानवजनित त्रासदी की सबसे ज्यादा पीड़ा भोग रहे हैं हरसूद के विस्थापित बच्चे और महिलाएँ। महिलाओं को परिवार पटरी पर लाने के लिए खासी मशक्कत करनी पड़ रही है और बच्चों को तो पता भी नहीं कि उनके साथ पिछले सालों में क्या गया–गुजरा है, जब तक उन्हें बड़े–बुजुर्गों से हरसूद के वैभवशाली अतीत का पता चलेगा उनकी मुट्ठी से वक्त रेत की तरह फिसल गया होगा और हथेली में बचेगा सिर्फ शून्य, उनके हाथ में भाग्य रेखाएँ तो प्रकृति ने खींची थी लेकिन मानो किसी ने रगड़–रगड़ कर उन्हें साफ कर दिया हो। हरसूद और उस जैसे ढाई सैकड़ा गाँवों की थाती पर किस्म–किस्म की रोटियाँ सेंकने वाले लोग अब नजर नहीं आ रहे हैं। अब यह इलाका न तो मीडिया की सुर्खियों में है और न कोई राजनैतिक एजेंडे में। जबकि हालात पहले से और ज्यादा दिन ब दिन बिगड़ते जा रहे हैं, क्या विस्थापितों की कराह और आह सुनाई दे रही है, नया हरसूद बेहतरी नहीं, बदतरी की तरफ बढ़ रहा है हर दिन–हर पल।

हरसूद सेक्टर पाँच में रहने वाले अमन सिंह की उम्र तो दस वर्ष है, लेकिन वह दूसरी कक्षा का छात्र है। ऐसा इसलिए नहीं कि वह परीक्षा में फेल हो गया। उसके साथ ऐसे कई और बच्चे पढ़ते हैं जिनकी उम्र ज्यादा है। नए हरसूद में ऑटो चलाने वाले रिजवान भी महज कक्षा आठ तक ही पढ़ पाया। यह कुछ उदाहरण मात्र ही हैं। लेकिन हरसूद से नए हरसूद आने के प्रक्रिया में बच्चों का एक बड़ा प्रतिशत निःशुल्क और अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा के संवैधानिक अधिकार से वंचित रह गया है। नए हरसूद में काम करने की मजबूरी, घरौंदा तैयार करने की मशक्कत और सुविधाओं के अभाव में बच्चे उचित शिक्षा हासिल नहीं कर सके हैं।

देश के सबसे बड़े शहरी विस्थापन की मार झेल रहे राजा हर्षवर्धन के इस शहर में छह हजार स्कूली बच्चे विभिन्न कक्षाओं में पढ़ रहे थे। सेक्टर पाँच के कन्या प्राथमिक विद्यालय की शिक्षिका कांता शर्मा ने बताया कि पहले साल में दाखिला लेने वाली लड़कियों का प्रतिशत बहुत कम था। बहुत मेहनत और कोशिशों के बाद अब दाखिला की संख्या बढ़ी है, लेकिन यह पहले जैसी कतई नहीं है। अपना आशियाना बनाने और परिवार को पटरी पर लाने के लिए कितने ही बच्चों की पढ़ाई छूट गई। हरसूद के शिक्षक श्री उपाध्याय ने बताया कि इस विस्थापन से लगभग एक हजार बच्चों की पढ़ाई किसी न किसी तरह प्रभावित हुई है। नए हरसूद में आने के बाद सेक्टर आठ के निवासी राजा खान ने बताया कि

उनके चार लड़कों का नए हरसूद में आने के बाद जब एडमीशन कराने पहुँचे, तो स्कूल मास्टर ने यह कहकर मना कर दिया कि वह एक महीने बाद आए हैं और अब एडमीशन का समय निकल गया है। उनका कहना है कि एक घर से दूसरे घर में आने तक समय तो लग ही जाता है लेकिन इस दौरान उनकी बेटी मंजू, गुलबसशां, बुलबुल और फयाज की पढ़ाई प्रभावित हुई।

हरेक बच्चे जो प्राथमिक शाला में पढ़ने जाता है उसे पका हुआ, पौष्टिक मध्यान्ह भोजन पाने का हक है। भोजन और शिक्षा के अधिकार की तरफ यह एक महत्वपूर्ण कदम है। लेकिन प्रदेश के अन्य स्थानों की जगह यहाँ भी सरकार की स्कूलों में भोजन व्यवस्था भी दम तोड़ती नजर आ रही है। यहाँ सरकार की योजनाओं से अपेक्षा ज्यादा इसलिए की जा सकती है कि हरसूद के लोगों ने एक त्रासदी को सहा है इसलिए नैतिक रूप से उन्हें योजनाओं का बेहतर लाभ भी मिलना चाहिए। मध्यान्ह भोजन योजना में सबसे बड़ा मामला उस लाल गेहूँ से संबंधित है, जो कहीं अधिक कीमत पर आस्ट्रेलिया से बड़े पैमाने पर मंगाया गया है और उसे मध्यान्ह भोजन या फिर सार्वजनिक वितरण प्रणाली के माध्यम से गरीब लोगों तक पहुँचाया जा रहा है। यहाँ भी लोगों को शिकायत है कि इसकी रोटियाँ जीभ को भाती ही नहीं हैं। सेक्टर पाँच में रहने वाले संतोष कुमार टेलर हैं। उनकी आर्थिक हालत ठीक नहीं हैं, इसके बावजूद उनकी लड़की स्कूल वाला खाना नहीं खाती। उसका कहना है कि वह हमें ठीक ही नहीं लगता। दूसरा मामला यह है कि जमीनी स्तर पर बजट की कमी और अन्य जाहिर कारणों से मध्यान्ह भोजन में गुणवत्ता की कमी होती है। उस लड़की की मम्मी राधा को भी शिकायत है कि बच्चे कहते हैं दाल में पानी अधिक होता है, या फिर सब्जी ठीक नहीं बनती, इससे अच्छा है घर में जो कुछ भी है वहीं बच्चों को रख दें।

हरसूद शहर में बच्चों की संख्या के अनुपात में महिला एवं बाल विकास विभाग द्वारा हर सेक्टर में आँगनबाड़ियाँ बनाई गई हैं। इन आँगनबाड़ियों के माध्यम से छह साल के छोटे शिशुओं के टीकाकरण, पोषणआहार और गर्भवती महिलाओं को प्रसव पूर्व सेवाएँ उपलब्ध करायी जा रही है। क्रियान्वयन और योजनाओं की मॉनीटरिंग के अभाव में यहाँ भी आँगनबाड़ियाँ की गतिविधियों में अनियमितताएँ नजर आ रही हैं। शहर में बच्चों के बुनियादी सवालों पर किए गए एक सर्वे में लगभग सत्तर फीसदी लोगों ने आँगनबाडियों की गतिविधियों को संतोषजनक नहीं बताया है, यह एक दुःखद स्थिति है।

सेक्टर पाँच का आँगनबाड़ी भवन शासकीय कन्या प्राथमिक शाला के एक कमरे में लगाया जा रहा है। दरअसल आँगनबाड़ी के लिए भवन तो बनाया गया है



DEV-100
P08

लेकिन उसमें कुछ दिनों से स्कूल के लिए मध्यान्ह भोजन योजना अंतर्गत भोजन बनाया जा रहा है। मध्यान्ह भोजन योजना के लिए स्कूलों में अलग से किचन शेड बनाने के प्रावधान हैं लेकिन किचन शेड बनाए जाने के बजाए आँगनबाड़ी के भवन में भोजन पक रहा है। इससे आँगनबाड़ी की सुविधाएँ तो चौपट हैं ही, आँगनबाड़ी को बच्चों के लिए एक अच्छा सेंटर भी तैयार नहीं किया जा सका है। आँगनबाड़ी का माहौल छोटे शिशुओं के अनुकूल होना चाहिए। सेंटर्स में रोचक बोर्ड, रुचिकर भोजन और शैक्षणिक खिलौने होने चाहिए, लेकिन सेक्टर पाँच स्थित सेंटर में इन सभी सुविधाओं का अभाव नजर आया। स्कूल के एक कमरे में चल रही आँगनबाड़ी में छोटे शिशुओं की अनुकूल माहौल का अभाव था। कमरे में जलाऊ लकड़ियाँ बिखरी पड़ी थीं और शेष सामान ताले में बंद नजर आया।

सेक्टर आठ में रहने वाले सुनील की पढ़ाई को विस्थापन लील गया। सुनील बताते हैं कि यदि यह प्रक्रिया नहीं हुई होती और हम विकास के नाम पर बलि नहीं चढ़ाए गए होते तो अब तक वह कक्षा बारहवी में पहुँच गए होते। कक्षा नवमीं के बाद उनकी पढ़ाई ऐसे छूटी कि दोबारा स्कूल नहीं जा सके। सुनील पढ़ना चाहता था लेकिन जल्दबाजी में हरसूद छोड़ा और यहाँ आकर दोबारा घर बनाने की मुहिम में जुट गए। उनके पिताजी बाजार में परचूनी की दुकान का काम करते थे। यहाँ आने के बाद उनका धंधा नहीं चल पाया क्योंकि बाजार बहुत दूर था और छनेरा गाँव में ज्यादा धंधा चलने लगा था। इससे उन्हें भी मजदूरी के लिए मजबूर होना पड़ा। सुनील बताते हैं कि यहाँ आने के महीनों बाद तक हम चैन की नींद नहीं सो पाए, यहाँ तक कि सपने में भी हमें हरसूद की अपनी पुरानी गलियाँ और घर याद आते थे। सुनील का सपना था कि पढ़–लिख कर अच्छी नौकरी कर सके, जिससे घर की हालत सुधारी जा सके, लेकिन वह सम्भव नहीं हो सका, उल्टे मजदूरी के लिए मजबूर होना पड़ा। सुनील बताते हैं कि अभी भी बहुत कम दिन की मजदूरी उन्हें मिल पाती है इसलिए किसी तरह जिंदगी की गाड़ी चल पा रही है।

ब्लॉक हास्पिटल के पास लांड्री की दुकान चला रहे विजय कनौजिया की कहानी भी कुछ ऐसी ही है। वह बड़ा होकर अच्छी पढ़ाई के साथ इंजीनियर बनने के ख्वाब देखा करता था लेकिन अब सड़क किनारे हर दिन सुबह आठ बजे दुकान खोलना उसकी मजबूरी है। उसके पिताजी भी परम्परागत रूप से यही काम करते हैं लेकिन उनकी वर्षो की ग्राहकी यहाँ आने के बाद खत्म हो गई। कई ग्राहक दूसरे शहरों में चले गए और उनका धंधा एकदम चौपट हो गया। मजबूरन 13 साल की उम्र में विकास को दूसरी सड़क पर एक और लांड्री की दुकान खोलनी पड़ी। इसके लिए उसे हर दिन सुबह आठ बजे दुकान खोलनी पड़ती है। कक्षा पाँचवी के बाद

विकास की पढ़ाई छूट गई। विकास बताता है कि पुराने हरसूद से आने के बाद यहाँ स्थिति ही ऐसी नहीं बन पाई, घर बनाने के चक्कर में उनका एडमिशन ही नहीं हुआ। एक साल खराब गया, फिर दोबारा उन्होंने एडमिशन ही नहीं करवाया। दिन भर दुकान चलाने के बाद उन्हें हर दिन बीस–से पच्चीस रुपये ही मिल पाते हैं, कई बार ग्राहक आते ही नहीं हैं। लेकिन ग्राहकी बनाए रखने और धंधा चल जाने की आस में वह यहाँ हर समय मौजूद रहते हैं।

हरसूद के ब्लॉक हास्पिटल में कहने को बाल संजीवनी केन्द्र के नाम से कुपोषित बच्चों के लिए विशेष इलाज की सुविधा मुहैया कराई गई है, लेकिन बच्चों के लिए कोई विशेषज्ञ डॉक्टर ही यहाँ मौजूद नहीं है तो फिर उनके इलाज की व्यवस्था को बखूबी समझा जा सकता है। यही कारण है कि इस केन्द्र में महीनों से कोई बच्चा भर्ती ही नहीं हुआ है। वैसे तो पूरे प्रदेश में विशेषज्ञ डॉक्टर्स की भारी कमी है लेकिन एक पुनर्वासित जगह में इन मूलभूत सुविधाओं का ध्यान रखा जाना चाहिए। बावजूद इसके यहाँ कोई डॉक्टर नियुक्त नहीं किया जा सका है। सामुदायिक स्वास्थ्य केन्द्र में पदस्थ बीएमओ डॉ एमके जैन इस बात से सिरे से खारिज करते हैं कि अस्पताल में मरीजों के इलाज में कोताही बरती जा रही है, लेकिन इस सवाल का उनके पास कोई जवाब नहीं था कि नया हरसूद बस जाने के बाद हरसूद अथवा पुनर्वासित गाँवों में बच्चों और महिलाओं की सेहत जानने के लिए क्यों कोई विशेष स्वास्थ्य शिविर अब तक नहीं लगाया गया है। नए हरसूद में आने के बाद कई लोगों को कई दिन अस्थायी टीन शेड अथवा झोपड़ीनुमा घरों में गुजारने पड़े, बारिश के चलते खुले मैदान में मच्छरों से जूझती हुई कई रातें गुजारनी पड़ी। जाहिर तौर पर इसका असर बीमारियों के रूप में भुगतना पड़ा। लेकिन स्वास्थ्य विभाग ने अब तक कोई विशेष शिविर आयोजित नहीं किया है, न ही सरकार की तरफ से लोगों की सुध लेने के लिए कोई सर्वेक्षण किया गया। बाल संजीवनी अभियान के अंतर्गत बच्चों का वजन लेकर कुपोषित बच्चों की संख्या जरूर दर्ज कर ली गई। लेकिन इससे उनके स्वास्थ्य को कोई फायदा पहुँचा हो, ऐसा नहीं हैं।

(राकेश मालवीय)

●●●

# सवाल यह कि बच्चे किस विभाग की जिम्मेदारी हैं?*

मध्यप्रदेश में विगत दो वर्षों में कुपोषण मानवीय विकास के एक केन्द्री सूचक के रूप में उभरकर राज्य और समाज के सामने आया है। बाल संजीवन अभियान के नवीनतम आँकड़ों के अनुसार 80 हजार बच्चे गंभीर रूप से कुपोषित और मृत्यु की कगार पर हैं। ऐसे में संगठन बच्चों की मौत के मामलों को उठाते र और सरकार उन्हें नकाराती रही। यह टकराव अब निर्गुण और निराकार नहीं र गया है बल्कि सम्बंधों की सतह पर साफ नजर आने लगा है। इसी वातावरण बाल हकों के लिये संघर्ष की प्रक्रिया में जब हम राज्य की भूमिका का विश्लेष करते हैं तो यह सहज ही नजर आता है कि राज्य की भूमिका तय करते सम सरकार के महिला और बाल विकास विभाग को ही पूरा राज्य मान लिया गया है स्वास्थ्य विभाग, पंचायत और ग्रामीण विकास विभाग तो दूर खड़े होकर ताक र हैं। यह स्पष्ट है कि बच्चों के विकास की जिम्मेदारी निभाने के कारण महिला औ बाल विकास विभाग की जवाबदेही तो तय होती ही है परन्तु जब यह पाया जा लगा कि जैसे–जैसे विभाग सामाजिक बाल संहार के अपराधी के रूप में कटघरे खड़ा हो रहा है वैसे–वैसे बच्चों की मौतों की दर बढ़ती ही नजर आ रही है। ऐस शायद इसलिये हो रहा है क्योंकि कुपोषण के संकट के हल के लिये कोई निश्चित बुनियादी समझ भी राज्य और राजनैतिक दलों के पास नहीं है।

स्वाभाविक रूप से हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि महिला और बाल विकास विभाग अपनी सीमित क्षमताओं के दायरे में बच्चों के विकास की प्रक्रिया म ज्यादा रचनात्मक भूमिका नहीं निभा सकता है। इसका सबसे बड़ा कारण यह है मध्यप्रदेश में राज्य के स्तर पर 56 लाख बच्चों के कुपोषित होने के बावजूद यह मुद्द सरकार और राजनैतिक दलों की प्राथमिकता का हिस्सा नहीं बन पाया है। चूँकि इन बच्चों की मौतों से मतपेटियों का वजन और विधानसभा की सीटों पर सीधा कोई प्रभाव नहीं पड़ता है इसलिये जन प्रतिनिधियों के लिये यह एक दोयम दर्जे का विषय है। फिर इससे आगे राजनीतिक दलों के सलाहकार जानते हैं कि सरकारें हिन्दू या मुसलमान की मौत से बर्खास्त होती हैं, बच्चों की भूख से मौतों से सरकारें बर्खास्त नहीं होती है। इसलिये मध्यप्रदेश के कबीना मंत्रियों की बैठक में कभी सरकार की लापरवाही से होने वाले बाल–संहार पर बहस नहीं हुई, न ही विधानसभा में बहस ही हुई। अब चूँकि मुद्दा ही महत्वपूर्ण नहीं है, इसलिये उस पर बहुत गहराई से विश्लेषण भी नहीं हुआ।

अपने आप में कुपोषण एक बहुआयामी संकट है जो प्रत्यक्ष रूप से सामाजिक व्यवहार, आजीविका के साधन, सरकारी सेवाओं और अधिकारों के लिये

---

* नवभारत में प्रकाशित

संघर्ष की प्रक्रिया से जुड़ा हुआ है। मूल रूप से यह पाया गया है कि जन्म के तत्काल बाद से 6 माह तक बच्चों को माँ का दूध पिलाया जाता है और जब बच्चों को यह दूध मिलना बंद होता है तो उन्हें शरीर और मन के विकास के लिए जरूरी पोषणाहार नहीं मिलता है। सिद्धांततः जन्म के बाद के शुरुआती दो वर्षों में बच्चों का लगभग 80 फीसदी शारीरिक मानसिक विकास हो रहा होता है। इसलिये उसकी पोषण सम्बंधी जरूरतें भी ज्यादा होती हैं। परंतु गरीबी के कारण उसे खाना नहीं मिलता है और एक सतत् भुखमरी की प्रक्रिया वहीं से शुरू हो जाती है। बच्चे को भूख लगती है परन्तु वह उसे अभिव्यक्त भी नहीं कर पाता है, इसलिये भूख के कारण मध्यप्रदेश में कुल मौतों में से 37.3 फीसदी मौतें 0 से 4 वर्ष तक की उम्र के बच्चों में दर्ज की गई हैं। ऐसी स्थिति में महिला एवं बाल विकास विभाग छह वर्ष तक के सभी बच्चों को आँगनबाड़ी की व्यवस्था के जरिये दलिया बाँटकर भुखमरी को तात्कालिक रूप से निष्प्रभावी करने की कोशिश करता है। अब यह कोशिश निष्प्रभावी सिद्ध हो रही है क्योंकि कुपोषण परिवार की खाद्य सुरक्षा से जुड़ा हुआ मसला है जिसे यह विभाग सुनिश्चित नहीं कर सकता है। इसके लिए लाजिमी है कि गरीबी का अभिशाप भोग रहे परिवारों की स्पष्ट रूप से पहचान हो और उन्हें प्राथमिकता के आधार पर रोजगार के अवसर उपलब्ध करवाये जायें। जिस तरह से लगातार आदिवासी बच्चों की अकाल मौतें हुई हैं, उससे स्पष्ट है कि राज्य सरकार ने जंगलों का विनाश किया है और प्राकृतिक संसाधनों पर से आदिवासी समुदाय के हक को छीना है इसलिये आदिवासी बच्चे भूख से मर रहे हैं। कुपोषण से पैदा हुई स्थितियाँ एक–दो नहीं 676 बच्चों की मृत्यु का कारण बनी, इनमें से 589 बच्चे इन समुदायों से सम्बंध रखते हैं।

खण्डवा में भोजन एवं काम के अधिकार के लिए संघर्ष कर रहे स्पंदन संगठन की पहल पर जिला प्रशासन ने काम के बदले अनाज योजना में कुपोषित बच्चों वाले परिवारों को प्राथमिकता के आधार पर रोजगार देने के आदेश जारी कर दिये। फिर राज्य स्तर पर भी महिला एवं बाल विकास विभाग ने यही पहल की। परन्तु यह अनुभव यह बताता है कि बच्चों के लिये विभाग को जिम्मेदार तो बनाया गया है पर उसे ताकतवर नहीं बनाया गया है। और सरकार के दूसरे विभागों को बच्चों की जिम्मेदारी से पूरी तरह से मुक्त रखकर छुट्टा छोड़ दिया गया है। काम के बदले अनाज योजना का ही उदाहरण लें, तो बाल विकास विभाग ने आदेश तो पारित कर दिया परन्तु इसके क्रियान्वयन का सूत्र तो ग्रामीण विकास विभाग के हाथ में है, जिसे अब तक जिम्मेदार नहीं बनाया गया है।

मध्यप्रदेश सरकार को दूरदृष्टि और निकटदृष्टि दोनों ही दोष है। न तो उसे पास का नजर आता है न दूर का। ग्रामीण विकास विभाग से ज्यादा चिंतनीय पहलू तो स्वास्थ्य विभाग की असंवेदनशीलता से जुड़ा हुआ है। बच्चे बीमार होते हैं, उन्हें

खसरा और टी.बी. होती है फिर वे मर जाते हैं, पर स्वास्थ्य विभाग की कहीं कोई जिम्मेदारी तय नहीं है और जब बच्चों की मौत होती है तो इसका पूरा दोष महिला एवं बाल विकास विभाग के मत्थे मढ़ दिया जाता है। इसी विभाग द्वारा चलाये जा रहे बाल संजीवनी कुपोषण निवारण अभियान के मार्च 2005 में संपन्न हुये छठे साप्ताहिक चरण में 80 हजार गंभीर रूप से कुपोषित बच्चों की पहचान हुई है। ये वे बच्चे हैं जो आज या कल कभी भी मृत्यु शैय्या पर जा सकते हैं। इन्हें तत्काल स्वास्थ्य सेवाओं की जरूरत है और इन्हें 160 ग्राम दलिया खिला कर स्वस्थ करने की बात करना एक अमानवीय और भद्दा मजाक है। बाल संजीवनी अभियान के संदर्भ में मध्यप्रदेश प्रशासन अकादमी द्वारा किए गये मूल्यांकन की रिपोर्ट में भी यही कहा गया है कि इस अभियान में स्वास्थ्य विभाग का कोई कार्यकर्ता शिरकत नहीं करता है और न ही 'विटामिन–ए' की आपूर्ति की जा रही है। उल्लेखनीय है कि गंभीर कुपोषण से अगर बच्चा बच भी जाता है तो वह विटामिन–ए के अभाव में अंधा हो जाता है। यह कोई स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं है कि आँगनबाड़ी कार्यकर्ता गाँव में कुपोषित बच्चों की पहचान जरूर करती है, परन्तु वह डॉक्टर या स्वास्थ्य कार्यकर्ता नहीं है, वह बच्चों का इलाज नहीं कर सकती। इन परिस्थितियों में वह ए.एन.एम. और मुख्य चिकित्सा अधिकारियों के सामने हमेशा याचक की मुद्रा में रहती है। वे चाहें तो इलाज करें, चाहें तो न करें, क्योंकि वे बाध्य नहीं हैं। यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि व्यावहारिक संदर्भों में स्थानीय आँगनबाड़ी कार्यकर्ता को बाहरी ए. एन.एम. की अपेक्षा कम सम्मान मिलता है क्योंकि उसका काम तकनीकी कौशल पर आधारित नहीं माना जाता है। ए.एन.एम. चूँकि नियमानुसार जिम्मेदार नहीं है और वैसे भी टीकाकारण के काम में भी उसने लापरवाही की मिसाल कायम की है इसलिये वह कुपोषित बच्चों को अस्पताल ले जाने की जहमत नहीं उठाती है। अक्सर बच्चों की मृत्यु के सम्बंध में यही सरकारी वक्तव्य दिया जाता है कि मौत कुपोषण से नहीं बल्कि खसरा, डायरिया या टी.बी. से हुई है। परन्तु वक्तव्य देने वाले यह भूल जाते हैं कि मध्यप्रदेश में केवल 31 फीसदी टीकाकारण ही हो पाया है और इसके लिए केवल स्वास्थ्य विभाग ही जिम्मेदार है और ये बीमारियाँ टीकाकारण के अभाव में बच्चों का जीवन कम करती हैं।

अब बाल विकास विभाग बाल शक्ति योजना लेकर आ रहा है जिसमें रंगीन शब्दों में यह दावा किया गया है कि गंभीर रूप से कुपोषित बच्चों को अस्पताल में दाखिल कर पूरी तरह से स्वास्थ्य होने तक उनका इलाज कराया जायेगा। उनके साथ बच्चों के पालकों को भी स्वास्थ्य केन्द्र में रहने की सुविधा मिलेगी, परन्तु आँकड़े इस सपने के रंगों को बदरंग कर रहे हैं। मध्यप्रदेश के टूटे–फूटे, संक्रमित और खण्डहर जैसे ग्रामीण स्वास्थ्य केन्द्रों में 12407 हजार बिस्तर ही उपलब्ध हैं, जो वैसे भी भरे रहते हैं और सरकार को 80 हजार बच्चों का इलाज करना है, यानी यदि तमाम इलाज करा रहे मरीजों को भी अस्पताल से बाहर निकाल दिया जाये,

तो भी एक बार में 12 हजार बच्चों का ही इलाज हो सकता है। प्रदेश में बच्चों की सुरक्षा अभी एक सपना है क्योंकि बच्चों के इलाज के लिए मध्यप्रदेश में अभी केवल 90 शिशु रोग विशेषज्ञ ही काम कर रहे हैं। जबकि 428 सामुदायिक स्वास्थ्य केन्द्रों, 48 जिला चिकित्सालयों, 6 चिकित्सा महाविद्यालयों सहित आपातकालीन जरूरत के लिए 718 चिकित्सकों की जरूरत है जो बच्चों का इलाज कर सकें। परन्तु सरकार की कार्यशैली के कारण तमाम दबावों के बावजूद चिकित्सक ग्रामीण इलाकों में काम करने के लिए तैयार नहीं हैं।

इस पर भी जब हम स्वास्थ्य विभाग के इस वर्ष के बजट का विश्लेषण करते हैं तो पता चलता है कि विभाग के पूरे बजट में एक व्यक्ति पर वर्ष भर में केवल 125 रुपये खर्च करने का प्रावधान है। जिसमें दवा और सेवा के अलावा अन्य खर्च भी शामिल है। सेंधवा के बलवाड़ी स्वास्थ्य केन्द्र के अंतर्गत 30 गाँव और 21 हजार की आबादी आती है, पर वहाँ पिछले तीन साल से डॉक्टर ही नहीं पहुँचा है। इसी के अंतर्गत कुपोषण से एक साल में 13 बच्चों की मौत हुई है और 16 फीसदी बच्चे गंभीर रूप से कुपोषित हैं, कुल कुपोषित तो 70 फीसदी से ज्यादा हैं। यहाँ कोई शक्ति बाल शक्ति योजना को लागू नहीं करा सकती है क्योंकि कानून बनाने वालों पर कोई कानून लागू नहीं होता है।

यह मसला सरकारी सूचना तंत्र से भी बखूबी जुड़ा हुआ है। अपने काम की सूचनायें तो प्रशासन की अंदरूनी और दुर्गम गाँवों से तत्काल मिल जाती है। गाँवों में जब जन संगठन जंगल या जमीन के मुद्दे पर आदिवासियों के साथ बैठक करते हैं, तो गाँव में मौजूद मुखबिरों या कोटवारों के जरिये सारी खबर कलेक्टर तक पहुँच जाती है। वहाँ से यह जानकारी राज्य सरकार के गुप्तचर विभाग और मुख्यमंत्री तक बिना किसी विलम्ब पहुँच जाती है और संगठन की कार्यकर्ताओं पर कार्रवाई करने के आदेश हो जाते हैं। इस पूरी प्रक्रिया में दो से पाँच घंटे लगते हैं। परन्तु गाँव में गंभीर रूप से कुपोषित बच्चों के बारे में जिला प्रशासन को अखबारों से खबर मिलती है और बच्चों के मरने के बाद ही कार्रवाई शुरू होती है। वह भी अगर हल्ला मचे तो। इसमें लगते हैं 20 से 60 दिन। स्वाभाविक है कि पूरी व्यवस्था लोक अहित के लिए काम करती है।

कुपोषण जैसे संकट के मामले में सबसे बड़ी समस्या यदि जवाबदेही और समन्वय के अभाव की ही है तो स्वाभाविक रूप से संकट से मुक्ति असम्भव हो जाती है और किसी चमत्कार की कल्पना ही सबसे बेहतर विकल्प है।

**(सचिन कुमार जैन)**

●●●

# 7 शिक्षा

## शिक्षा के सर्वव्यापीकरण का सपना*

हमारे समाज की समग्र प्रगति में बाधा बनने वाली कुछ ऐसी समस्याएँ है जिनका बरसों–बरस बीत जाने के बाद भी आज तक कोई समाधान नहीं हो सक है। जो खुद को दुनिया का सबसे विकसित, अमीर और आधुनिक देश मानते हैं, उन देशों में भी इन समस्याओं का आज तक पूरी तरह खात्मा नहीं हो सका है। ये समस्याएँ किसी एक गाँव या शहर की नहीं हैं, बल्कि इनका दायरा देश–प्रदेश की सीमा को पार कर विदेश तक फैला हुआ है। यूँ कहा जा सकता है कि दुनिया का हर देश आज इन समस्याओं से जूझ रहा है, लेकिन हल अभी तक निकल नहीं पाया है।

आप जानना चाहेंगे कि वे कौन सी समस्याएँ हैं जो कि दुनिया के लगभग हर देश के लिए परेशानी बनी हुई हैं। इन समस्याओं में अशिक्षा, बेरोजगारी, गरीबी, बिगड़ता पर्यावरण, आतंकवाद आदि प्रमुख हैं। ये सभी वे बाधाएँ हैं जिनके कारण मानव के विकास का मार्ग अवरूद्ध हो रहा है। इसमें सर्वाधिक प्रमुख समस्या अशिक्षा को माना जा सकता है क्योंकि शिक्षित न होने के कारण लोगों को समझ विकसित नहीं हो पाती और उनकी बुद्धि का विकास नहीं हो पाता। अशिक्षा के कारण अन्याय, शोषण, अत्याचार की घटनाएँ अधिक होती हैं। विकास के लिए अशिक्षा के अंधकार को दूर करना, सबको शिक्षा से जोड़ना, शिक्षित करना जरूरी है।

यह प्रसन्नता का विषय है कि अशिक्षा की अंतर्राष्ट्रीय समस्या को संयुक्त राष्ट्र संघ ने गंभीरता से समझा और इसे दूर करने के लिए कार्ययोजना तैयार की। प्रसंगवश उल्लेखनीय होगा कि संयुक्त राष्ट्र संघ की आव्हान पर आज से 6 वर्ष पूर्व 8 सितंबर 2000 को अटलांटा नामक शहर में दुनिया के 189 देशों के प्रमुख प्रतिनिधियों की बैठक हुई थी। इस बैठक में दुनिया से गरीबी, अशिक्षा, सहित कुल

---

* फाईल टाइम्स में प्रकाशित

8 प्रमुख समस्याओं के खत्म करने के लिए कार्ययोजना बनाई गई। बैठक में शामिल देशों ने तय किया कि वर्ष 2005 तक दुनिया के हर बच्चे को प्राथमिक शिक्षा मिल सके, यह निश्चित किया जाएगा। शिक्षा के सर्वव्यापीकरण के लिए प्रत्येक देश में अभियान चलाया जायेगा। इसी प्रकार गरीबी, पर्यावरण सुधार, आतंकवाद का खात्मा, लैंगिक समानता सहित अन्य मुद्दों पर भी कार्य करने की योजना तैयार की गई। सभी देशों ने इसे लागू करने पर सहमति जाहिर की।

अब जबकि संयुक्त राष्ट्र संघ के आव्हान पर हुई इस बैठक को 6 वर्ष से ज्यादा बीत चुके हैं, तो यह जरूर देखा जाना चाहिये कि समस्याओं का खात्मा करने के लिए जो लक्ष्य निर्धारित किये गये उन पर कितना काम हो सका है। इस ओर ध्यान दें तो पता चलता है कि संयुक्त राष्ट्र संघ की बैठक में निर्धारित किये गये शिक्षा के सर्वव्यापीकरण के लक्ष्य की दिशा में अभी 189 देशों में से किसी भी देश में संतोषजनक प्रगति नहीं हो पाई। ऐसे में वर्ष 2015 तक दुनिया के सभी बच्चों को प्राथमिक शिक्षा दिये जाने का लक्ष्य कैसे पूर्ण होगा, यह सवाल बड़ा महत्वपूर्ण है।

शिक्षा के दुनिया के हर बच्चे तक पहुँचाने का काम किस रफ्तार से चल रहा है, इसका आकलन करना दिलचस्प होगा। मिसाल के तौर पर ऑस्ट्रेलिया के एक प्रतिष्ठित संगठन द्वारा पिछले दिनों जारी की गई एक रिपोर्ट पर गौर कीजिए। लास्ट इन लाईन, लास्ट इन स्कूल, नामक इस रिपोर्ट में कहा गया है कि अशिक्षित बच्चों को शिक्षा देने का अभियान ऑस्ट्रेलिया सहित अन्य देशों में बहुत धीमा चल रहा है। इसकी एक वजह यह है कि विश्व के अमीर देश अशिक्षा मिटाने में रुचि नहीं दिखा रहे हैं। रिपोर्ट के अनुसार दुनिया भर के प्राथमिक स्कूलों से बाहर होने वाले बच्चों की संख्या आठ करोड़ से बढ़कर 10 करोड़ हो गई। इसके अतिरिक्त चार करोड़ से ज्यादा बच्चे विभिन्न कारणों से शिक्षा हासिल नहीं कर पा रहे हैं।

यदि हम भारत में शिक्षा के लोकव्यापीर्करण के लिए चलाये जा रहे कार्यो को देखें तो यहाँ इस दिशा में प्रगति तो हुई है, परन्तु सन् 2015 तक सभी बच्चों को शिक्षा से जोड़ने का लक्ष्य पूर्ण होगा, ऐसी संभावना फिलहाल दिखाई नहीं देती है। इंडिया कंट्री रिपोर्ट 2007 के अनुसार भारत में बुनियादी सुविधा व गुणवत्तापूर्ण शिक्षा का स्तर बहुत कम है। विभिन्न कमीशनों की प्रस्तावना के बाद भी शिक्षा के बजट में कोई खास बढ़ोत्तरी नहीं हो पाई है व जीडीपी के 6 प्रतिशत शिक्षा पर खर्च होने की कल्पना भी अभी तक साकार नहीं हो पाई। ऐसे में सबको शिक्षा से जोड़ने का अभियान कैसे निर्धारित समय अवधि में पूरा होगा?

प्रसंगवश मध्यप्रदेश में शिक्षा की स्थिति का उल्लेख करना भी जरूरी होग यहाँ कुछ सामाजिक संगठनों ने संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा सन् 2015 के लिए निर्धारि लक्ष्य की वर्तमान स्थिति को लेकर एक रिपोर्ट तैयार की है। इस रिपोर्ट में लक्ष्य क प्राप्ति के लिए अब तक हुई कार्यवाही की विस्तार से जानकारी दी गई है। इसव मुताबिक मध्यप्रदेश में 44.77 लाख परिवार गरीबी रेखा के नीचे और 15.81 लार परिवार अति गरीबी रेखा के नीचे हैं। इन परिवारों की गरीबी वर्ष 2015 तक दूर ह पायेगी, यह लक्ष्य फिलहाल तो असम्भव ही लगता है। इस प्रकार यदि मध्यप्रदेश शिक्षा की स्थिति देखें, तो रिपोर्ट के अनुसार राज्य की 32 प्रतिशत शालाओं केवल एक ही शिक्षक पढ़ाता है और 20 प्रतिशत विद्यार्थी प्राथमिक स्तर से आगे नहीं पढ़ पाते हैं। यदि बालिकाओं का जिक्र करें तो लगभग 38 प्रतिशत बालिकाएं आठवीं कक्षा तक भी नहीं पढ़ पाती हैं।

ग्रामीण क्षेत्र में तो शिक्षा की स्थिति अधिक चिंताजनक है जहाँ लगभग 45 फीसदी बालक–बालिकाएँ पाँचवीं कक्षा में पहुँचने से पहले ही पढ़ाई छोड़ देते हैं इस सम्बंध में यूनिसेफ द्वारा जारी एक रिपोर्ट में कहा गया है कि मध्यप्रदेश में वर्ष 2006–07 में प्राथमिक स्तर पर 5 में से केवल 3 बच्चे ही कक्षा पहली से पाँचवी तक पहुँच पाये हैं। हालत यह है कि मध्यप्रदेश में शिक्षा के लोकव्यापीकरण हेतु चलाये जा रहे सर्व शिक्षा अभियान के बावजूद भी लगभग 20 प्रतिशत बच्चे स्कूल से दूर हैं। एक अन्य रिपोर्ट के अनुसार मध्यप्रदेश में सन् 2005–06 में प्राथमिक शिक्षा उत्तीर्ण करने की दर 60 प्रतिशत थी, जो कि यह बताती है कि शत–प्रतिशत बच्चों को शिक्षा से जोड़ने का लक्ष्य अभी भी अधूरा है। ऐसे में सबको शिक्षित करने का सपना कैसे पूरा होगा, यह देखना है।

**(अमिताभ पाण्डेय)**

●●●

# आदिवासी इलाकों में शिक्षा के इंतजाम*

आदिवासियों के बच्चों को शिक्षित करने के लिए शिक्षा विभाग द्वारा जो कल्याणकारी कार्यक्रम चलाये जा रहे हैं, उनकी सच्चाई जानना है तो मध्यप्रदेश के झाबुआ जिले के पेटलावद विकासखण्ड में कुछ गाँवों का दौर कर लीजिए। इन गाँवों में कही स्कूल नहीं है। जहाँ स्कूल हैं वहाँ पर्याप्त संख्या में शिक्षक नहीं हैं। शिक्षकों की कमी दूर करने की फिक्र अधिकारियों को नहीं है। शायद यही कारण है कि अपने बच्चों को शिक्षित करने की चिंता करने वाले आदिवासी अनोखे विरोध प्रदर्शन कर अफसरों का ध्यान शिक्षकों की कमी की ओर खींच रहे हैं। आदिवासी इलाकों में शिक्षा के इंतजाम सुधारने के लिए ऐसे कुछ अनोखे विरोध प्रदर्शन पिछले दिनों झाबुआ जिले के पेटलावद विकासखण्ड में देखे गये। गत वर्ष अगस्त को ग्राम कालीघाट में शिक्षकों की कमी से त्रस्त गाँव वालों ने पूर्व घोषणा के अनुसार स्कूलों में तालाबंदी की और बच्चों को एक पेड़ पर बिठाकर गाँव के ही एक युवक ने दो घंटे तक पढ़ाया। पेड़ पर स्कूल लगाने के पीछे गाँव वालों की मंशा सरकार का ध्यान शिक्षकों की कमी की ओर आकर्षित करने की थी। इसके लिए 14 अगस्त को कालीघाटी के ग्रामवासी प्रशासन को ज्ञापन भी दे चुके थे कि यदि 30 अगस्त तक गाँव के प्राथमिक एवं माध्यमिक स्कूलों में पर्याप्त शिक्षकों की व्यवस्था नहीं की गई तो स्कूलों में ताला लगाकर प्रदर्शन किया जाएगा। ज्ञापन के माध्यम से अपनी माँग ऊपर तक पहुँचाने के बाद भी निर्धारित ग्रामवासियों को स्कूल में ताला लगाने पर मजबूर होना पड़ा। जानकारी मिली है कि विरोध प्रदर्शन के बाद भी कालीघाटी में पर्याप्त शिक्षकों को पदस्थ नहीं किया जा सका है तथा स्कूलों में तालाबंदी कर पेड़ पर स्कूल लगाने में सहयोगी कुछ सामाजिक कार्यकर्ताओं एवं गाँव वालों के विरुद्ध कार्यवाही की जा रही है। माना जा सकता है अधिकारियों को शिक्षकों के पद भरने से ज्यादा चिंता विरोध प्रदर्शन करने वालों को सबक सिखाने की है।

आदिवासी इलाकों में शिक्षा के इंतजाम का हाल बताने वाली दूसरी दिलचस्प घटना भी पेटलावद विकासखण्ड की ही है। यह घटना भी यह दिखाने के लिए काफी है कि आदिवासी इलाकों की कमी से जूझ रहे गाँव वालों ने शिक्षक दिवस पर मिट्टी के गुरुजी बनाकर उनकी पूजा के माध्यम से गाँव वाले शिक्षकों की कमी की ओर प्रशासन का ध्यान आकर्षित करना चाहते थे। बताया जाता है कि माता फलिये के प्राथमिक स्कूल में केवल एक शिक्षक है जो कि लगभग 100 बच्चों को पढ़ा रहा है। बार–बार शिक्षकों की माँग करने के बाद भी माता फलिये में पर्याप्त

---

* अग्निपथ में प्रकाशित

संख्या में शिक्षकों को पदस्थ नहीं किया जा सका है। शिक्षा के इंतजामों की बदहाली का आलम यह है कि माता फलिये के आसपास लगभग दो किलोमीटर तक मिडिल स्कूल नहीं है। गाँव से दूर पोखा नामक जगह पर जो मिडिल स्कूल है वहाँ पहुँचने के लिए बच्चों को रास्ते में नदी–नाले पार करना पड़ते हैं। जो कि बारिश में खतरनाक हो सकता है। शायद यही कारण है कि माता फलिये के आसपास रहने वाले आदिवासी अपने बच्चों को मिडिल स्कूल में भेजना नहीं चाहते हैं। प्राथमिक शिक्षा के बाद ही अधिकाँश बच्चों की पढ़ाई बंद हो जाती है। ग्राम पंचायत पोरवा के सरपंच हरसिंह बारिया की बात पर यकीन करें तो ऐसा ग्राम पंचायत के पाँच फलियों के लिए स्कूल खोलने का प्रस्ताव लगभग दो माह पूर्व विकासखण्ड शिक्षा अधिकारी को भेजा गया था जिस पर आज तक कोई सुनवाई नहीं हुई। पेटलावद विकासखण्ड में शिक्षा की व्यवस्था के कुछ और भी उदाहरण देखे जा सकते हैं। मिसाल के तौर पर ग्राम काव्याखेड़ा की प्राथमिक शाला में 46 बच्चों को एक शिक्षक पढ़ाते हैं तो ग्राम गरवाड़ी में 42 बच्चों के लिए एक ही शिक्षक है। ग्राम बिथड़ी में तो 200 से ज्यादा बच्चों को केवल एक शिक्षक के भरोसे छोड़ दिया गया है। इन प्राथमिक स्कूलों में पदस्थ एक मात्र शिक्षक मध्यान्ह भोजन सहित अन्य गैर शैक्षणिक कार्यों को करने के बाद बच्चों को पढ़ाने के लिए कितना समय निकाल पाता होगा इसका अंदाजा आसानी से लगाया जा सकता है। पेटलावद के विकासखण्ड शिक्षा अधिकारी भी स्कूलों में शिक्षकों की कमी को स्वीकार करते हैं।

लेकिन रिक्त पदों पर पर्याप्त शिक्षक कब तक पदस्थ हो जायेंगे, इस सवाल का जवाब देने को कोई तैयार नहीं है। परिणाम यह है कि गाँववालों को शिक्षकों के पद भरने की माँग करते हुए नये–नये ढंग से विरोध प्रदर्शन कर सरकार का ध्यान आकर्षित करना पड़ रहा है। मजे की बात यह है कि इस सबसे बावजूद शिक्षकों की कमी की समस्या का कोई समाधान नहीं निकल पा रहा है। लेकिन आदिवासी इलाकों में शिक्षा के बेहतर इंतजाम वाले दावे किये जा रहे हैं। सरकारी दावे और मैदानी सच्चाई के बीच का अंतर कब खत्म होगा, कहना मुश्किल है।

**(अमिताभ पाण्डेय)**

•••

# असंगठित श्रमिकों के बच्चे अशिक्षा की राह पर*

शिक्षा हमें ज्ञान के साथ ही संस्कृति एवं संस्कार भी प्रदान करती है। शिक्षित व्यक्ति ही सशक्त राष्ट्र का निर्माण करते हैं। शिक्षा वह महत्वपूर्ण बुनियादी आधार है जिससे व्यक्ति, परिवार, समाज, प्रदेश, देश की प्रगति होती है। हम यह कह सकते हैं कि समग्र विकास के लिए शिक्षा जरूरी है। शिक्षा के महत्व को ध्यान में रखते हुए ही इसे हमारे संविधान में मौलिक अधिकार के रूप में शामिल किया गया है। हर बच्चे को शिक्षा से जोड़ने के लिए शासकीय, अशासकीय, संस्थागत एवं व्यक्तिगत स्तर पर हमारे देश में अनेक योजनाएँ संचालित की जा रही हैं।

सरकार की मंशा सबको शिक्षित करने की है, लेकिन इस पर अमल कितना हो पा रहा है, यह ध्यान देने योग्य तथ्य है। आज भी हमारे देश में बड़ी संख्या में ऐसे बच्चे मौजूद हैं, जिनके लिए शिक्षा एक सपना बन गई है। हालात ऐसे बन पड़े हैं कि यदि वे चाहें तो भी विपरीत परिस्थितियों के कारण शिक्षा से नहीं जुड़ पा रहे हैं। जिन बच्चों की उम्र पढ़ने की है वे बच्चे अपनी क्षमता से अधिक कामकाज करते हुए घर की कमाई का सहारा बन रहे हैं। गरीब तबकों में कमाई बढ़ाने के लिए मासूम बच्चों को काम पर लगा देना कोई नई बात नहीं है। छोटी उम्र में पढ़ने–लिखने से दूर कामकाज कर रोजी–रोटी के लिए संघर्ष करते इन बच्चों को आप अपने आस–पास आसानी से देख सकते हैं। ये वे बच्चे हैं जिनके कंधों पर स्कूली बस्ते की जगह घर की कमाई के बोझ को कम करने की जिम्मेदारी आन पड़ी है। यह आँकड़ा उन्हीं बच्चों का है जो असंगठित श्रमिक वर्ग के हैं और किसी न किसी तरह का काम करके अपने परिवार के लिए जीने लायक कमाई करने का जरिया बने हैं। शिक्षा से नहीं जुड़ पाने के कारण अब मजदूरी के काम से ऐसे बच्चों का पीछा छूटना मुश्किल है। गौरतलब है कि असंगठित क्षेत्र का दायरा बहुत व्यापक है इसलिए इसमें कहीं स्थायी रूप से बस गए मजदूरों के अलावा उन मजदूरों को भी शामिल किया जाता है जो कि काम की तलाश में शहर–दर–शहर भटकते रहते हैं। इनमें से कुछ मजदूर ऐसे होते हैं, जो कि गाँव में खेती किसानी का काम खत्म हो जाने पर कुछ महीनों के लिए परिवार सहित महानगरों में, अन्य राज्यों में पलायन कर जाते हैं और कुछ महीने, साल बीत जाने पर वापस अपने मुकाम यानी गाँव लौट आते हैं, लेकिन इस आने–जाने में बच्चों की पढ़ाई स्वाहा हो जाती है। मजदूरों के बच्चे स्कूल का मुँह भी नहीं देख पाते। सनद रहे कि भारत सरकार ने 6 से 14 वर्ष तक आयु समूह के 3.6 करोड़ से अधिक बच्चों को प्राथमिक शिक्षा देने के लिए लगभग 18 हजार करोड़ की राशि से 5 वर्ष पहले सर्व शिक्षा अभियान की

* स्वतंत्र वार्ता में प्रकाशित

शुरुआत की थी। इस अभियान का लक्ष्य वर्ष 2007 तक बच्चों को शिक्षित कर दे था, लेकिन अब तक लगभग 60 फीसदी लक्ष्य ही पूर्ण हो सका है। देश में फीसदी बच्चे शिक्षा का लाभ नहीं ले पाये हैं। इसमें ज्यादातर बालिकाएँ हैं।

दरअसल शिक्षा से वंचित रहने का अभिशाप झेल रहे इन बच्चों को ऐ महौल ही नहीं मिल पाता है कि वे पढ़ने–लिखने के बारे में कुछ सोच सकें। इ बच्चों के माँ–बाप भी ज्यादातर बिन पढ़े ही है। इसलिए उन्हें शिक्षित होने से ज्या लगाव नहीं रह गया, क्योंकि ऐसे लोगों की सारी उम्र शोषण, उत्पीड़न झेलते बीत जाती है और वे इसी को अपनी किस्मत मानकर स्वीकार कर लेते हैं। शाय यही वजह है कि पीढ़ी–दर–पीढ़ी जैसे–तैसे मजदूरी कर अपना और परिवार पेट किसी तरह भरने का सिलसिला चलता रहता है। पेट पालने के इस चक्कर मजदूर, शिक्षा जैसे महत्वपूर्ण विषय पर सोच भी नहीं पाते हैं। नतीजा यह मजदूरों कर रहे ज्यादातर बच्चों को विरासत में मजदूरी ही मिलती है।

प्रसंगशः उल्लेखनीय है कि वर्ष 2006 में भारत सरकार के नियंत्रक ए महालेखा परीक्षक द्वारा प्रस्तुत एक सर्वेक्षण में यह जाहिर किया गया था कि शि पर साल–दर–साल बेहिसाब खर्च करने के बावजूद 6 वर्ष से 14 वर्ष तक की आ वर्ग के लगभग 1.36 लाख बच्चे स्कूल नहीं पहुँच पाते। उल्लेखनीय है असंगठित क्षेत्रों जैसे भवन निर्माण, उद्योग धंधों, दुकानों, ढाबों, गैरेज, पुल, सब सहित अन्य छोटे–मोटे व्यवसाय करने वालों, खदानों, खेती, किसानी में ल मजदूरों सहित कुछ अन्य क्षेत्रों में कार्यरत श्रमिकों के बच्चे भी प्रायः अपने पिता व कामकाज ही करने लगते हैं। छोटे–मोटे कामकाज करते–करते वे कब पूरी तर अशिक्षित मजदूर में बदल जाते हैं, इसका उन्हें ख्याल ही नहीं रहता है।

इधर सरकारी गलियारों में शिक्षा के प्रचार–प्रसार के लिए आये दि नई–नई घोषणाओं कार्यक्रमों का ऐलान जोर–शोर से किया जाता है, परन्तु इ योजनाओं में से ज्यादातर अपने लक्ष्य पूरा नहीं कर पातीं। जो आला ओहदेदा शिक्षा के लिए लोक लुभावन बड़े बजट की आकर्षक नीति बनाते हैं यदि वे उसक सही–सही अमल के लिए उतने ही ज्यादा गंभीर हों तो शायद शैक्षिक परिदृश्य क तस्वीर बेहतर हो सकती हैं तथा असंगठित क्षेत्रों में लगे श्रमिकों के सभी बच्चों क शिक्षा की मुख्यधारा से जोड़ा जा सकेगा। 'सर्वे भवंतु शिक्षितः' का सपना तभ साकार होगा।

(अमिताभ पाण्डेय

●●●

# 8 कुछ मेरी सुनो

विकास संवाद मीडिया फैलोशिप के तहत काम करते हुए फैलो को कई अनुभवों से गुजरना पड़ा। फैलो ने अपनी रिपोर्ट में अपने अनुभवों को भी दर्ज किया। मूल रूप से उनके अनुभवों के माध्यम से यह समझने की कोशिश की जा सकती है कि फैलोशिप ने किस तरह से उनके विचारों को प्रखर बनाने और कार्यों को पहले से ज्यादा धारदार बनाने में मदद की। जिन फैलो ने अपने अनुभवों का पिटारा खोल कर उसे विस्तार देने की कोशिश की है, उसे यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

## समाज के सीने में हलचल

**रूमनी घोष**

जब हम किसी एक खास मुद्दे पर निरंतर अखबार में रहते हुये काम करते हैं या लेखन करते रहते हैं तो एक समय के बाद यह जरूरी हो जाता है कि उस मुद्दे की प्रस्तुति और पक्षों के सम्बंध में विविधता लाई जाये। स्पष्ट रूप से मुद्दे की पुनरावृत्ति को मीडिया में स्थान नहीं मिल पाता है। जहाँ तक लेखों या विश्लेषणों के प्रकाशन का सवाल है, इस पर मेरे दो विचार हैं – पहला, लेखों को लिखने की प्रक्रिया में जाने के लिये विश्लेषण बहुत महत्वपूर्ण होता है और विश्लेषण के लिए मुद्दे पर व्यापक अनुभव और अध्ययन। दूसरा, अखबार में लेख विश्लेषण लिखने के लिये एक वर्ग को निश्चित किया जाता रहा है, इसलिए इस व्यवस्था के बीच में लेखों के लिये स्थान निकालना कठिन होता है।

इस फैलोशिप के जरिये मुझे मध्यप्रदेश और मध्यप्रदेश के बाहर मुद्दे को जानने–समझने के लिये भ्रमण का मौका मिला। साथ ही, खाद्य सुरक्षा और गरीबी के परिप्रेक्ष्य में हो रहे प्रयासों को एक अलग नजरिये से देखने का अवसर भी।

मार्च में मुझे जब फैलोशिप मिली तो मन में ढेरों कल्पनाएँ गढ़ ली थी। थोड़ा सा गुरूर था कि गाँवों में जाकर ग्रामीणों की समस्याएँ देखूँगी और लिखूँगी, तो शहर में बैठे अधिकारी चेतेंगे। कहीं न कहीं यह भ्रम था कि शायद समाज को बदलने का प्रयास सही दिशा और दशा में नहीं हो रहा है। कलेक्टर कार्यालय और विभाग के बड़े–बड़े आँकड़ों के मायाजाल में यह धारणा भी थी कि हर 3 किमी पर सर्व शिक्षा

अभियान का स्कूल है तो गाँव–गाँव में शिक्षा भी पहुँच रही है। जाहिर है कि इससे लोग अपने लिए दो जून की रोटी भी कमा लेंगे और अधिकारों की बात करेंगे।

इस अभियान की शुरुआत देवास के उन पाँच गाँवों से की, जो गेहूँ उगाकर आत्मनिर्भर हो गये थे। इस क्षेत्र में समाज "प्रगति सहयोग संस्था" काम कर रही है। इसके बाद इस जिले के पानपाट इलाके में गई। यहाँ तो मैं तीन साल पहले गई थी। पिछले पचास सालों से पानी–पानी को तरसते इस गाँव का बच्चा–बच्चा बेहाल था लेकिन इन्होंने 'पानी बोआ' तो गाँव भर में पानी की फसल लहलहा उठी। पानी एवं समग्र विकास पर काम कर रही 'विभावरी' संस्था ने गांवों को यह मंत्र दिया था और यह गाँव लहलहा उठा। इन दौरों के बाद मैं खुश थी क्योंकि हर जगह एक 'रोशनी' दिखाई दे रही थी। विकास की रोशनी....जो धीमें–धीमें ही सही लेकिन जल रही थी। लेकिन यह रोशनी बहुत देर तक जल नहीं पाई। 12 मई को मैं झाबुआ गई। मेघनगर, अलीराजपुर और थांदला ब्लॉक में पाँच दिन के दौरे ने मुझे नजारा दिखाया, जिसने मुझे एक अजीब से पशोपेश में लाकर खड़ा कर दिया। सवाल था– 'कहाँ से शुरू करूँ? इसके बाद बैतूल में सतपुड़ा के घने जंगलों के बीच भील और कोरकू आदिवसियों का संघर्षपूर्ण जनजीवन। खाने के लिए संघर्ष, पानी के लिए संघर्ष और यहाँ तक कि अस्तित्व के लिए संघर्ष। चकाचौंध और बाजारवाद से भरी दुनिया के बीच उन्हें अपने होने का औचित्य ढूँढना पड़ रहा है क्योंकि तथाकथित समाज यह मान रहा है कि विकास की दौड़ में ये बराबरी से भाग नहीं पा रहे हैं ? बीपीएल सर्वे, सर्व शिक्षा अभियान, अन्त्योदय योजना, वृद्धावस्था पेंशन योजना, विधवा पेंशन, चिकित्सा सुविधाएँ कुछ भी यहाँ नहीं पहुँची। आज भी यहाँ 243 पहुँच विहीन गाँव हैं, जहाँ बारिश के चार महीने न कोई बाहर आ सकता है और न ही जा सकता है। सरकार की ग्रेन बैंक योजना इन इलाकों में काम नहीं कर रही है। जिन गाँवों तक गाड़ियाँ आसानी से पहुँच जाती हैं वहीं तक जाकर योजनाएँ खत्म हो जाती हैं।

छिंदवाड़ा के तामिया ब्लॉक में पातालकोट क्षेत्र के भारिया आदिम जाति के लोगों से मुलाकात वाकई यादगार थी। छोटा सा गाँव छिंदी और रफीक भाई का आतिथ्य। पूरे दौरे में इतनी खूबसूरत जगह हमने नहीं देखी। वहाँ रात भर बिताने के बाद दूसरे दिन पातालकोट गए। वहाँ हमें बालचन्द्र मिला जो नीचे गाँव में रहता था। नीचे ले जाने और ऊपर लाने के 25 रुपये लिए। सरकारी आँकड़ों के मुताबिक यहाँ 400 करोड़ का विकास कार्य हुआ है लेकिन यह सबकुछ यहाँ नहीं दिखता है। यहाँ हुए भ्रष्टाचारों की फाइल बनी थी और सांसद कांतिलाल भूरिया उसकी जाँच कर रहे थे, लेकिन जानकारी मिली है कि यह फाइल गुम हो गई है।

एक जून को श्योपुर, शिवपुरी, मुरैना, भिंड के दौरे पर निकली। इस यात्रा में सहयोगी जयंत तोमर ने काफी मदद की। यह इलाका उनका देखा हुआ था। यहाँ सहरिया आदिवासियों की स्थिति दयनीय है। रोटी, कपड़ा और पानी (इस इलाके में पानी की काफी दिक्कत है) नहीं है, लेकिन सबसे दुःखद यह है कि इनकी आँखों में

सपने भी नहीं हैं, किसी में भी जीने की चाहत नहीं है। सरकारी अधिकारियों के लिए यह चुटकुले के पात्र बन चुके हैं। हर कहीं एक ही जवाब – यह नहीं सुधर सकते हैं.... जब तक घर में दो रोटी होगी तब तक काम पर नहीं जाते हैं। और जाने कितनी धारणाएँ गढ़ दी गई हैं। लेकिन कोई भी उनके बीच नहीं पहुँचा, उनके साथ दो घड़ी नहीं बैठा तो फिर कैसे पता लग सकता है कि आखिर उन्हें क्या चाहिए? यहाँ से आने के बाद से ही मेरा नजरिया बदल गया, क्योंकि हकीकत उससे भी ज्यादा क्रूर नजर आई जो मैंने सोचा था। कहीं कोई उम्मीद का खूँटा नहीं है जिसके सहारे फिर से सपने बुने जा सके। सवाल बहुत सारे हैं, लेकिन जवाब नहीं है। आमतौर पर अधिकारी कहते हैं कि सहरिया सुधर नहीं सकते? तो फिर इन्हें सुधारने (इन्हें सुधारने की जरूरत मुझे नहीं महसूस होती है, बल्कि इनकी माली हालत, स्वास्थ्य, शिक्षा यह सब सुधारने की बात होनी चाहिए) की जिम्मेदारी किसकी होनी चाहिए? कौन है जवाबदार? ताज्जुब हुआ कि अधिकारी से लेकर मंत्री तक किसी ने भी यह जिम्मेदारी नहीं ली। शुरू के दिन से लेकर आखिरी तक एक ही जवाब सुनते–सुनते मेरे भीतर भी कहीं अनजाने यह अपील कर रहा था।

..... मगर झारखण्ड दौरे में सबकुछ साफ हो गया। अधिकारियों ने वहाँ के भुईया आदिवासियों के लिए यही लफ्ज इस्तेमाल किए। सारे अधिकारी खुद की कुर्सी बचाने के लिए एक ही 'बोली' बोल रहे हैं। 18 सालों में और गरीब हो गया पन्ना – मेरी जिंदगी का सबसे बड़ा अनुभव था 18 साल बाद पन्ना जाना। जब से कार्यक्रम बना तब से ही मैं बहुत उत्साहित थी। वो स्कूल, वो रास्ता, वो लोग सबकुछ कितना बदल गया होगा..... सतना पहुँचने के बाद तो यह लग रहा था कि कब पन्ना पहुँच जाऊँ। पहले की तरह मैं सोच रही थी कि ढाई घंटे में पहुँच जाऊँगी। उम्मीद तो थी शायद अब और कम समय लगे, लेकिन पहुँचने में चार घंटे लग गए। फिर पन्ना बस स्टैंड पर उतरी तो मेरा दिल रो पड़ा। यादों की तरह यहाँ के हर हिस्से धूमिल हो चुके थे। डायमंड माइंस प्रोजेक्ट, विश्व प्रसिद्ध प्राणनाथ का मंदिर, टाइगर प्रोजेक्ट, पांडू फॉल्स जैसे पर्यटन स्थल के बाद भी इस जगह का कोई विकास नहीं हुआ। प्रदेश भर में घूमने के बाद यह पहला जिला था, जो 18 सालों में और गरीब हो गया। सरकारी खातों में भी यह देश के 100 सबसे गरीब जिलों में है। वहाँ पुराने परिचितों से मिलकर पुरानी यादें ताजा हो गई लेकिन दिल में एक अजीब सा दर्द था, अफसोस था, गुस्सा था.... इस बात का आखिर कौन जिम्मेदार है?

**समाज के सीने में हलचल**

कान लगाकर सुनिए..... समाज के सीने में एक सुगबुगाहट सुनाई पड़ रही है। भूख की लड़ाई, काम की लड़ाई, जो वे अब तक हारते आए हैं पर अब नहीं हारना चाहते हैं। वे उठ खड़े हुए हैं..... उनके सीने में एक चिंगारी सुलग रही है..... जाने यह कब भड़क जाए।

●●●

# बदलाव की बयार

नीति दीवान

महिला नेतृत्व और स्वशासन विषय पर फैलोशिप का एक साल का अनुभव उत्साह जनक रहा। हालाँकि पूर्व में भी मैं महिलाओं सम्बंधी विषय पर लिखती रही थी, लेकिन फैलोशिप के दौरान महिला नेतृत्व को करीब से जानने, समझने में सहायता मिली। इस दौरान विभिन्न क्षेत्रों में जाकर वहाँ का अध्ययन करना खासा उपयोगी रहा। चूँकि मैंने अपने अध्ययन में जहाँ बुंदेलखण्ड के क्षेत्रों को शामिल किया, वहीं मण्डला डिण्डोरी जैसे आदिवासी बहुल क्षेत्र भी मेरे अध्ययन का हिस्सा बने। इन दोनों क्षेत्रों में महिला नेतृत्व में आश्चर्यजनक अंतर देखा गया। बुंदेलखण्ड का अनुभव जहाँ निराशाजनक रहा, तो आदिवासी बाहुल्य क्षेत्रों में महिला नेतृत्व का तेजी से उभरना विस्मित करता है। जबकि भ्रमण के लिए अन्य क्षेत्रों में महिला नेतृत्व की मिली–जुली स्थिति दिखाई दी।

आदिवासी बाहुल्य क्षेत्र भले अविकसित अथवा पिछड़े समझे जाते हों, लेकिन इस समाज में महिलाओं की स्थिति का असर महिला नेतृत्व पर भी स्पष्ट दिखाई देता है। यहाँ की महिलाएँ अपेक्षाकृत अधिक आत्मविश्वास, मुस्तैदी और चपलता के साथ नेतृत्व की बागडोर सँभाले हुए हैं। भले ही इन क्षेत्रों की महिलाओं को सरकारी योजनाओं की पूरी जानकारी ना हो लेकिन वे जागरूक होने का प्रयास अवश्य कर रही हैं। हालाँकि धीरे–धीरे प्रदेश भर में व्याप्त सरपंच पति की अवधारणा कम हो रही हैं। महिलाएँ अपने अधिकारों के प्रति संजीदा भी हो रही है, लेकिन आदिवासी बहुल क्षेत्रों में तो यह ना के बराबर है। महिला स्वयं ही बिना किसी पुरुष सदस्य की सहायता से अपना राजनैतिक अस्तित्व तलाश रही है। हालाँकि प्रदेश भर में महिलाओं में व्याप्त अशिक्षा, घरेलू कार्यो का दायित्व, उपेक्षा, संत्रास और मानसिक तनाव महिलाओं के राजनैतिक सशक्तिकरण की दिशा में बाधा डाल रहा है।

बुन्देलखण्ड, चंबल, ग्वालियर, रीवा आदि क्षेत्रों में व्याप्त सामंतवादी सोच, जातिवाद और पितृसत्तात्मक समाज का दुष्प्रभाव महिला नेतृत्व पर भी दिखाई दे रहा है। महिला प्रतिनिधियों को सरेआम बेइज्जत होकर नेतृत्व की कीमत चुकानी पड़ रही है। शिवपुरी जिले के सतनवाड़ा कला गाँव की आदिवासी सरपंच की सरेआम इसलिए पिटाई की गई क्योंकि उसने गाँव के तथाकथित बड़े लोगों के सामने मुँह खोलने की हिम्मत की थी। सागर जिले के केरवना ग्राम पंचायत की

संतोषरानी तो दबंगों के खौफ की वजह से गाँव के बाहर ही रहती हैं। उसे इस बात का खतरा है कि यदि वह गाँव में गई तो उसकी हत्या हो जाएगी। छतरपुर जिले के महोईकला गाँव की सरपंच इंदिरा कुशवाह भी ज्यादती का शिकार हुई, उसके साथ न केवल मारपीट की गई बल्कि उसे निर्वस्त्र कर गाँव में घुमाया गया और पूरा गाँव मूकदर्शक बना रहा। लोकतंत्र को शर्मिन्दा करने वाली यह कोई एक घटना नहीं बल्कि प्रदेश में प्रायः हर रोज ही किसी महिला प्रतिनिधि को महिला होने की वजह से प्रताड़ना का शिकार होना पड़ता है। इनमें से मात्र दस प्रतिशत मामले ही ऐसे हैं जो उजागर हो जाते हैं। पुलिस को शिकायत करने पर भी कार्रवाई होने की गारण्टी नहीं रहती है। बागली की नगर पंचायत अध्यक्ष श्यामा तोमर के साथ सरेआम हुई प्रताड़ना की घटना की रिपोर्ट लिखने में पहले तो पुलिस ने आनाकानी की, बाद में उच्च अधिकारियों के निर्देश में रिपोर्ट तो लिखी गई, लेकिन कानून की ऐसी धाराएँ लगाई गई, जिसमें सजा की गुंजाईश ना के बराबर है।

पिछले एक साल के दौरान लगातार एक विषय पर प्रकाशित हुए आलेखों का प्रभाव भी दिखाई दिया। अखबारों में आमतौर पर स्थान नहीं पाने वाले विषयों को लगातार स्थान प्राप्त हुआ, जिस पर चर्चा भी हुई। बहरोल की सरपंच भूरीबाई पर लिखे आलेख पर अधिकारियों ने मुझसे व्यक्तिगत तौर पर जानकारी माँगी और इस मामले की जाँच के आदेश जारी किए। महिला सरपंचों को प्रताड़ित किए जाने वाली घटनाओं पर भी सरकारी स्तर पर जानकारी एकत्रित की जा रही है। सरपंचों के मानदेय बढ़ाने सम्बंधी निर्णय पर भी कहीं ना कहीं इस विषय पर लिखे आलेख का असर देखा गया। मेरे द्वारा महिला सरपंचों पर लिखे आलेख के आधार पर भी सरकारी स्तर पर आयोजित महिला पंचायत में प्रतिनिधियों को आमंत्रित किया गया। शुष्क शौचालय की अनिवार्यता पर लिखे आलेख के आधार पर कुछ पंचायत प्रतिनिधियों पर कार्रवाई की जा रही है।

व्यक्तिगत तौर पर इस दौरान किए गए अध्ययन से मुझे विषय के गहन अध्ययन का मौका मिला। इस विषय पर मेरी एक पहचान भी बनी। यही वजह है कि भविष्य में भी मेरा इस विषय से जुड़ाव बना रहेगा।

•••

# सामंतवाद के कोढ़ से उपजी अशांति

भारत शर्मा

आजादी के आंदोलन की सबसे बड़ी विडंबना यह रही कि उस समय देश का पूँजीवाद इतना सक्षम नहीं था कि वह अपनी लड़ाई अकेले लड़ सकता, इस कारण उसे देशी सामंतवाद के साथ समझौता करना पड़ा। यह गठजोड़ आज भी अपने इसी रूप में मौजूद है। जातिवाद का विकास सामंतवाद ने अपने लाभ के लिये किया था। पश्चिमी देशों में जब दास प्रथा का जोर था, तब हमारे समाज के नीति–निर्देशकों ने पहले जाति प्रथा का विकास किया, फिर इसे धर्म की चाशनी में लपेटा गया, जिससे शारीरिक के साथ–साथ मानसिक रूप से भी लोगों को गुलाम बनाया जा सके। इस देश में मुगलों का शासन रहा उसके बाद अँग्रेजों ने भी शासन किया, पर किसी ने भी इस अमानवीय परम्परा का विरोध सिर्फ इस कारण से नहीं किया, क्योंकि वे यहाँ शासन करने आये थे। वे जानते थे कि इस परम्परा पर प्रहार करने का सीधा सा अर्थ यहाँ के सामंतों को अपने फिलाफ खड़ा करना होगा, जो किसी न किसी रूप में उनकी मदद कर रहे थे।

आजादी के राष्ट्रीय आंदोलन ने सभी वर्ग के लोगों को अपने साथ जोड़ने का काम तो किया, पर उन्होंने भी इस परम्परा का विरोध नहीं किया। मध्यप्रदेश के सामंत भी दलितों को किसी भी प्रकार की आर्थिक स्वतंत्रता देने को राजी नहीं हैं, यहाँ तक कि प्रदेश में लागू सीलिंग एक्ट के बाद भी दलित जमीन के हकदार नहीं बने सके। उन्हें डर है कि अगर इनकी दशा सुधरी तो उनके यहाँ बेगार करने वाले लोगों की कमी हो जायेगी। लोग इस व्यवस्था से पीड़ित हैं, वे असंगठित हैं। जो लोग उन्हें संगठित करने का प्रयास भी कर रहे हैं वे मूल समस्या की जगह दूसरी समस्या पर उनका ध्यान आकर्षित करके, एक तरह से सामंतवादी व्यवस्था का ही साथ दे रहे हैं। सामाजिक सद्भाव विषय पर काम करते हुए मैंने पाया कि जिस क्षेत्र में सामंतवाद अपने विकृत रूप में मौजूद है, वहाँ जातिवाद का उतना ही विद्रूप रूप देखने को मिला, जो क्षेत्र अपेक्षाकृत शांत हैं। उसे अशांत करने का प्रयास सब लोग कर रहे हैं जो सामंतवाद के पैरोकार हैं। मध्यप्रदेश के अलग–अलग हिस्सों की समस्या अलग–अलग प्रकार की है, पर सामंती शोषण किसी न किसी रूप में हर जगह मौजूद है। महाकौशल, मालवा व निमाड़ ऐसे क्षेत्र हैं जहाँ जातिवाद का असर उतना दिखाई नहीं देता, जितना चंबल, बघेलखण्ड एवं बुंदेलखण्ड में नजर आता है। इन तीनों जगह की भी समस्याएँ अलग–अलग तरह की हैं। चंबल क्षेत्र में मैंने देखा कि वहाँ के तमाम गाँव दलितों से विहीन हो चुके हैं, मुरैना जिले के सबलगढ़, कैलारस, जौरा, मुरैना में पिछले कुछ समय से अचानक दलित बस्तियों में उभार आ गया है। ये लोग गाँव की अपनी खेती को छोड़कर शहर में मजदूरी करने को मजबूर हैं। इन

दलितों का कहना है कि उनका गाँव छोड़ने का कारण लगातार बढ़ रहा उत्पीड़न है, उत्पीड़न का कारण राजनैतिक भी है। इस क्षेत्र की एक विशेषता यह भी है कि राजनीति में पिछड़े वर्ग की दमदारी के बाद से यह वर्ग भी प्रभुत्ववादी हो गया है, दलितों का शोषण सवर्ण किया करते थे, अब यह वर्ग भी इसमें पीछे नहीं है। इस क्षेत्र में एक परिवर्तन भी देखने को मिला, जादौन माटी में पिछले कुछ समय से दलितों को रोकने का प्रयास किया जा रहा है, क्योंकि दलितों के पलायन के कारण ठाकुरों को बेगार करने वाले नहीं मिल रहे, दूसरा पिछड़े वर्ग के शक्तिशाली होने के कारण वे अब सवर्णों पर भी हमले करने लगे हैं, ऐसे में पुलिस केस के लिये भी वे दलितों को आगे करते हैं, पर इस प्रक्रिया में एक बार फिर से दलित वर्ग पिछड़े वर्ग के निशाने पर आ जाता है। इस क्षेत्र में उत्पीड़न की हद यह है कि दलित वर्ग अपनी मर्जी से अपने खेत भी नहीं बेच सकता, उसे कब खेत बेचना है, किस कीमत में और किसे बेचना है, यह उस गाँव के सामंत तय करते हैं।

चंबल में दलितों के बीच बहुजन समाज पार्टी के कारण एक प्रकार की राजनैतिक चेतना का कुछ स्तर तक विस्तार हुआ है, पर बुंदेलखंड अभी इससे वंचित है। बुंदेलखंड में दलितों को अभी भी मंदिर में प्रवेश करने की अनुमति नहीं है। गाँव के होटलों पर दलितों के चाय पीने के लिये अलग गिलास की व्यवस्था है। ग्रामसभाओं की बैठकों में दलितों को अलग से बिठाया जाता है। सार्वजनिक भोज अगर गैर दलित के घर हो, तो दलितों के बैठने के लिये अलग से व्यवस्था की जाती है, अगर दलित के घर हो तो गैर दलित उसमें शामिल नहीं होते। दलितों को उनके घर पर कच्चा सामान भेजना पड़ता है। स्थानीय राजनेता भी इस व्यवस्था को जिंदा रखने के लिए प्रयासरत हैं। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण ग्राम ढाना में हुआ विवाद है। नवरात्रि के समय दलितों ने अलग देवी की प्रतिमा निकाली। उसे जब वे विसर्जित करने ले जा रहे थे, तो सवर्णो ने उन पर हमला कर दिया। इस मामले में गिरफ्तार लोग जब जमानत पर छूटे, तो उनके लिये स्वागत रैली निकाली गयी, जिसमें भाजपा के साथ काँग्रेस के नेता भी शामिल थे। दलितों की हालत कुछ क्षेत्रों में तो ऐसी है कि दलित मुर्दों को भी उस श्मशान घाट में नहीं जलाने दिया जाता, जहाँ गैर–दलित मुर्दे जलाये जाते हैं। इस क्षेत्र की राजनीति पर हमेशा से ठाकुरों व ब्राह्मणों का कब्जा रहा है, इस कारण शासन से मिलने वाली तमाम राहतों व योजनाओं का लाभ भी इन्हीं लोगों ने उठाया है। आजादी से पहले यहाँ मनई रखने की परम्परा थी, जो दास प्रथा का ही एक रूप है। जबलपुर तक आते–आते जातिवाद का असर थोड़ा सा कम नजर आता है। यहाँ पहले ऐसा नहीं था, पर जातिवाद के खिलाफ सिहोरा के पास बसे गोसलपुर के दलितों द्वारा किये गये आंदोलन ने इसे एक नयी दिया दी। गोसलपुर में यह आंदोलन लगभग 15 वर्ष पूर्व हुआ था, जिसका सूत्रपात कालीचरण रजक नामक एक व्यक्ति ने किया था। जिसमें तमाम प्रगतिशील ताकतों ने भी दलितों का साथ दिया था। बताया जाता है कि आंदोलन सार्वजनिक होटल पर चाय पीने के विवाद

को लेकर शुरू हुआ था। फिर उसका इतना व्यापक रूप हुआ कि गोसलपुर में कई दिन तक कर्फ्यू लगाना पड़ा।

छिंदवाड़ा में आदिवासियों के नाम तमाम लोन निकालकर गैर आदिवासी मजे कर रहे हैं। शोषण के लिये यहाँ एक तरीका निकाला गया है वर्षी मजदूरी का। ये मजदूर न्यूनतम वेतन पर वर्ष भर सामंत के यहाँ काम करता है। साल भर में इसे दस दिन की छुट्टी दी जाती है, इससे ऊपर छुट्टी लेने पर उसे अनुबंध के अतिरिक्त उतने ही दिन काम करना करना होता है, जिसके लिये उसे कोई वेतन नहीं दिया जाता। खेत मालिक इन वर्षी श्रमिकों को अधिकतर पैसा अग्रिम में दे देता है, जिसे ये लोग अपने रोजमर्रा के काम में खर्च कर लेते हैं, इसके बाद ये हर खर्च के लिये खेत मालिक पर निर्भर रहते हैं, जिसके कारण एक तरह से ये उन सामंतों के बँधुआ बन जाते हैं। सिवनी का आदिवासी आदिवासी अस्मिता को लेकर चिंतित है, उसने सार्वजनिक स्थानों पर हिन्दू प्रतीकों को लेकर भजन गाना बंद कर दिया, अब उसके भजनों में आदिवासी महानायक या बड़ देव प्रमुखता से आता है। वहीं झाबुआ और धार का आदिवासी खुद को हिन्दू मान रहा है। इन आदिवासी गाँवों में आदिवासियों के सभी प्रतीक खत्म कर उनके स्थान पर हिन्दू प्रतीकों को स्थापित करने का काम किया जा रहा है। अपने अध्ययन के दौरान मैंने गोधरा में देखा कि हिंसा में सरकार किस प्रकार से लिप्त हो सकती है। पहले लोगों ने दंगों के दौरान उन लोगों को निशाना बनाया, जो मुस्लिम समाज में असर रखते थे, फिर पुलिस की मदद से इन लोगों को नेतृत्वविहीन कर दिया जाये, जिससे इस समाज को आसानी से भयभीत किया जा सके। जो गुजरात में हुआ, उसे धार में दोहराने का प्रयास किया गया। प्रशासन की जहाँ तक बात है वह हर जगह संवेदनहीन नजर आता है, इसका एक उदाहरण वे जनजातियाँ भी हैं जिन्हें समाज में आपराधिक जनजातियों के नाम से जाना जाता है। ये जनजातियाँ पुलिस के रिकॉर्ड को दुरुस्त करने का साधारण सा रास्ता है, इसी कारण पुलिस इनके साथ कोई रियायत करना नहीं चाहती। होशंगाबाद ज़िले के सोहागपुर में मुझे पारधी समाज के कई ऐसे लोग मिले जिन्हें पुलिस ने अलग–अलग नाम से पकड़ा था, इन लोगों को न्यायालय ने तो बरी कर दिया, पर पुलिस इन पर विश्वास करने को तैयार नहीं हैं। प्रशासन चाहता है कि ये लोग अपराध का रास्ता छोड़कर सही रास्ते पर चलना शुरू कर दें, पर इसके लिये वो उनके लिये कुछ भी करने को तैयार नहीं है। प्रशासन ने इन लोगों की बस्ती में पीने के पानी या स्कूल तक की व्यवस्था नहीं की है। गाँव के दूसरे कुओं से वे पीने का पानी भरें तो उस पर विवाद होता है। यही हाल स्कूल का है, स्कूल में किसी बच्चे का सामान चोरी हो जाने पर शिक्षक इन बच्चों की तलाशी लेकर उन्हें लगातार इस बात का अहसास कराते हैं कि वे लोग किस समाज से जुड़े हैं।

**(संक्षिप्त)**

●●●

# स्वास्थ्य सेवाओं से बहिष्कृत महिलायें

रानी शर्मा

फैलोशिप के दौरान राजधानी भोपाल के अलावा प्रदेश के विभिन्न जिलों की यात्राएँ कर शहरी एवं ग्रामीण क्षेत्रों की स्वास्थ्य सेवाओं की स्थितियों एवं विभिन्न नियमों कानूनों का विश्लेषण करते हुए कई समाचारों का प्रकाशन मैंने करवाया। चूँकि एक अखबार के साथ जुड़े होने के कारण अन्य पत्र–पत्रिकाओं के लिए लिखना संभव नहीं हो पाया और साथ ही आंतरिक नियमों के कारण अपने ही अखबार में लेखों का प्रकाशन करवा पाई पर समाचारों में मैंने मुद्दों का विश्लेषण करना शुरू कर दिया, ताकि खबर सिर्फ खबर न रह जाए।

भोपाल जिले में स्थित अस्पतालों में महिलाओं की चिकित्सा हेतु उपलब्ध संसाधनों, संसाधनों की कमी, डॉक्टर, नर्स, दवाओं की स्थिति पर शोध करके समाचार प्रकाशित किए। इसमें शासन के नीतिगत मुद्दे, घटनाओं और आयोजनों को कवर किया। भोपाल में झुग्गी बस्तियों का भ्रमण करके वहाँ महिलाओं के स्वास्थ्य और प्रसव के लिए उपलब्ध सुविधाओं और आम जनता द्वारा सुविधा का लाभ उठाने की प्रवृत्ति के बारे में पता किया। बाणगंगा बस्ती, रोशनपुरा बस्ती, राजीव नगर, अर्जुन नगर, भीम नगर में लोगों से चर्चा की। यहाँ प्रमुख बात यह पता चली कि राजधानी में बसी इन बस्तियों में रहते हुए भी ज्यादातर लोग घरों में ही प्रसव कराते हैं। इन बस्तियों में दाई भी मिली, जिनको जरूरत पड़ने पर प्रसव के लिए लोग अपने घरों में बुलाते थे। हालाँकि शहर में ही रहते हुए अस्पताल इनकी पहुँच के अंदर है, फिर भी अस्पताल में प्रसव न कराने के कारणों के बारे में महिलाओं के अस्पतालों में हुए कुछ अनुभव थे। उनका कहना था कि उनके साथ अस्पताल में नर्स–डॉक्टर्स का व्यवहार अच्छा नहीं रहता। शिशु के जन्म के समय प्रसूता पर नर्स–दाई चिल्लाती हैं। दूसरे, अस्पताल में बाजार से तमाम सारी दवाएँ मँगाई जाती है एवं शिशु होने पर अस्पताल में आया, बाई व नर्स नेग के रूप में रुपये माँगती हैं। भोपाल के करीब एक दर्जन से ज्यादा गाँवों का मैंने भ्रमण किया। महिलाओं के लिए प्रसव सुविधा मिलना तो दूर है इन गाँवों में किसी को साधारण बीमारी, उल्टी–दस्त होने पर इलाज तक नहीं मिल पाता। यह स्थिति राजधानी से लगे उन गाँवों की है जहाँ से आए दिन नेता–मंत्री गुजरते रहते हैं।

प्रदेश में पहली बार 2006 में चिकनगुनिया और डेंगू बुखार फैलने के कारण हजारों की संख्या में लोग इससे प्रभावित हुए, जिस पर मैंने सबसे पहले समाचार लिखा था, जो दैनिक भास्कर के प्रथम पृष्ठ पर प्रकाशित हुआ था, इस समाचार के छपने के बाद स्वास्थ्य विभाग तत्काल सक्रिय हुआ था।

मुरैना जिले में महिला स्वास्थ्य की स्थिति का जायजा लेने पर पता चला कि वहाँ वर्तमान में किशोरियों में एनीमिया की समस्या बड़े पैमाने पर हैं। इसका कारण

लोगों का बेटे–बेटी में भेदभाव करना है। गोपालपुर की एक महिला बिटिया बाई ने बताया कि परिवार में पुरुषों व लड़कों को पहले भोजन कराते हैं, बाद में लड़कियों के साथ वह भोजन करती हैं। कई बार भोजन कम पड़ जाने पर वह बेटियों के साथ भूखे पेट भी सो जाती हैं।

शिवपुरी जिले में गाँव मझेरा, गुनाया, राजा की मुड़ेरी, गुरावल, हाजी खेड़ी आदि गाँव का भ्रमण किया। शिवपुरी से 15 किलोमीटर दूर मझेरा गाँव का मैंने जायजा लिया। मझेरा में ज्यादातर सहरिया आदिवासी बसते हैं। शिवपुरी से 7 किलोमीटर तक का रास्ता तो मुख्य मार्ग होने के कारण ठीक है, परन्तु यहाँ से जब मझेरा का रास्ता शुरू होता है तो अच्छे–खासे व्यक्ति की हालत खराब हो जाती है। ऐसे में यदि किसी गर्भवती महिला को कोई प्रसव के समय अस्पताल तक ले जाने का साहस करे तो यकीनन रास्ते में ही महिला व उसके गर्भस्थ शिशु को जान का गंभीर खतरा होगा। यहाँ की स्थिति देखकर मुझे अहसास हुआ कि कितनी गंभीर स्थिति में महिलाएँ शिशुओं को जन्म दे रही हैं। कई बार गर्भवती महिलाएँ प्रसव के समय 2–3 दिन तक दर्द से तड़पती रहती हैं। उन्हें शिवपुरी तक ले जाने के लिए न तो आवागमन के साधन है और न ही मार्ग। प्रसव होने के बाद जब तक बसोर जाति की महिला नहीं आती, तब तक शिशु की नाल भी नहीं कट पाती, मझेरा से करीब आठ किलोमीटर दूर कोटा गाँव से बसोर जाति की महिला को नवजात की नाल काटने के लिए बुलाया जाता है। कलाबाई ने बताया कि बच्चे को दाई पैदा होने के बाद तुरंत ही नहला देती है। यह काफी भयानक स्थिति नजर आई।

इस क्षेत्र के गाँवों में कई तरह के अंधविश्वास व्याप्त हैं। किसी गर्भवती महिला का अचानक गर्भपात हो जाने पर यह माना जाता है कि भूतबाधा के कारण उसका गर्भपात हुआ है। ऐसे में किसी महिला के गर्भवती होने पर उसको डॉक्टर–नर्स के बजाय ओझा के पास झाड़–फूँक के लिए ले जाया जाता है। इसके लिए ओझा को बाकायदा मुर्गा–शराब और अच्छा भोजन दिया जाता है। इन गाँवों में तकरीबन एक दर्जन से ज्यादा ओझा सक्रिय हैं। इसके बाद भी यदि प्रसव के दौरान किसी महिला की मौत हो जाती है और शिशु गर्भ में ही मर जाता है तो सबसे ज्यादा वीभत्स कार्य गर्भवती का पेट काटकर शिशु को बाहर निकालना होता है। फिर मृतका और उसके शिशु का अलग–अलग अंतिम संस्कार किया जाता है। इस क्षेत्र में ऐसी दर्जनों घटनाएँ हो चुकी हैं।

भिण्ड जिले में गाँव डीडीखुर्द, गाँव भगवासी, गाँव डीडीकलाँ, भिण्ड ब्लॉक का भ्रमण करके वहाँ कई केस स्टडी की। यहाँ पर भी जिन गाँवों में भ्रमण किया वहाँ कोई दाई नहीं मिली। हालाँकि जिला स्वास्थ्य विभाग यहाँ के सभी गाँवों में प्रशिक्षित दाई होने का दावा करता है परन्तु हालत यह है कि प्रशिक्षित कौन कहे, अप्रशिक्षित दाई तक के दर्शन यहाँ नहीं हुए।

●●●

# अधिकारों के लिए उठे कदम

**राकेश कुमार मालवीय**

गर्मियों में बड़वानी सबसे ज्यादा तापमान के कारण चर्चा में रहता है और बाकी समय गरीबी, भूख और कुपोषण से हो रही मौतों के कारण। इसकी थाती पर नर्मदा का पानी है और सिर के चारों ओर ऊँचे पहाड़ भी। लेकिन विकास की अवधारणाएँ यहाँ के वांशिदों के लिए ठीक उल्टी ही साबित हो रही हैं। इसलिए अपने अधिकारों के लिए सबसे ज्यादा आवाज और संघर्ष के नारे भी यहाँ से सुनाई देते हैं। चाहे नर्मदा की लड़ाई हो अथवा रोजगार गारण्टी योजना में काम नहीं मिलने पर बेरोजगारी भत्ता देने की माँग। झमाझम बारिश में भी इस जिले के लोग उठकर मोर्चा सम्भालते हैं और तहसीलदार से सवाल–जवाब करते नजर आते हैं।

आदिवासी मुक्ति संगठन के विजय जी से सफर के दौरान ही इस क्षेत्र के हालात पर थोड़ी बहुत चर्चा हुई। सेंधवा से तकरीबन दो घंटे की यात्रा के बाद बस जहाँ रुकी वहीं से मोर्चा शुरू होने वाला था। यह पानसेमल ब्लॉक है। इस जबरदस्त बारिश में भी तकरीबन आधा किलोमीटर लम्बी लाइन। हर व्यक्ति के हाथ में बारिश से बचने के लिए छाता, किसी के पास वो भी नहीं और कहीं एक ही छातों के नीचे दो आदमी। सबसे आगे महिलाओं का हुजूम, सड़क के दोनों तरफ अनुशासित लाइन, लेकिन आवाज में पूरा जोशो–खरोश, बीच में एक हाथठेले पर माइक लगाकर नारों को बुलंदी दी जा रही थी। मोर्चा ब्लॉक ऑफिस के सामने एक सभा में तब्दील हो गया था। ब्लॉक के विभिन्न हिस्सों से आए लोगों ने अपनी बोली में अपने मुददों को अपने लोगों के सामने बारी–बारी से रखा। सबके अपने सपने थे लेकिन उनके आड़े प्रशासनिक जवाबदेहिता और भर्राशाही के संकट। इसी संकट से सैकड़ों लोगों की लड़ाई जारी भी थी। मोर्चे के दूसरी तरफ तहसीलदार महोदय आ चुके थे। बारिश के बावजूद उनके सिर पर छाता नहीं था न कोई दूसरा इंतजाम। उनके सामने माँगों का पर्चा पढ़ा गया। गौर से सुनने के बाद अब बारी उनकी थी। लेकिन इस बार मामला केवल आश्वासन से टलने वाला नहीं था।

तहसील कार्यालय के एक अदने से कर्मचारी ने थोड़ी अशिष्टता दिखाई तो कुछ ही मिनट में लोग फिर मुख्य सड़क पर जा बैठे। लगभग एक घंटे यातायात लोगों की जिद के आगे बंद था। चर्चा फिर शुरू हुई। मोबाइल फोन पर कलेक्टर महोदय से बातचीत हुई। शाम ढल चुकी थी बातचीत का दौर जारी था। तय हुआ कि लिखित में आश्वासन मिलने के बाद ही मोर्चा खत्म होगा। इस बीच लगभग पच्चीस महिलाएँ गाँव जाने की तैयारी में ट्रैक्टर पर ही बैठी थीं। एक कार्यकर्ता ने

बातचीत में बताया घर पहुँचने से ज्यादा महत्वपूर्ण है कि हम क्या लेकर लौटे हैं? तहसीलदार महोदय सारी माँगों के जवाब और सम्बंधित विभागों के नाम पत्र जारी करने के सिलसिले में नौ बजे तक एक टायपिस्ट और अमले के साथ बैठे थे। मोर्चा खत्म हो गया था। लेकिन इस बार लोगों के चेहरों पर खुशी के भाव प्रगाढ़ थे क्योंकि हर बार की तरह उन्होंने केवल कोरा आश्वासन नहीं लिया था।

मोर्चे में शामिल सुमली बाई केवल एक सामाजिक कार्यकर्ता की हैसियत से शामिल नहीं थी। उसकी एक और पहचान है। डॉक्टरनी बाई की पहचान। सुमली बाई भले ही पढ़ी–लिखी न हो, पर उसे पता है बुखार में पैरासिटामोल दी जाती है और अपनी सेहत को दुरुस्त रखने के लिए क्या करना चाहिए। केवल सुमली बाई ही नहीं, बड़वानी में ऐसी 26 आदिवासी महिलाएँ हैं जो स्वास्थ्य चेतना और छोटी–मोटी बीमारियों में दवा देने का काम कर रही हैं। एक गैर सरकारी संस्था 'सेहत' ने इन महिलाओं को प्राथमिक इलाज के लिए लगातार प्रशिक्षण दिया है। इन महिलाओं के पास दवाओं का एक झोला होता है। दवाओं के रंग, आकार और नाम से यह दवाओं को पहचान लेती हैं।

लगभग छह साल पहले शुरू हुआ यह प्रयोग इतना कारगर साबित हुआ है कि पहले जहाँ इन आदिवासी इलाकों में स्वास्थ्य पर लोगों का प्रति व्यक्ति खर्च 136 रुपये था तो अब दूसरे सर्वे के बाद यह महज 35 रुपये के आस–पास ठहर गया है। सेहत के मकरंद और संतकुमार ने बताया कि महिलाओं को इलाज के लिए प्रशिक्षण देना कोई आसान काम नहीं था। लेकिन महिलाओं की मेहनत से यह आसान हो गया। पहाड़ी गाँवों से छोटी–मोटी बीमारियों में भी इन्हें कई किलोमीटर चलकर आना पड़ता था। महाराष्ट्र सीमा से सटे गाँव पीपरपुल, बल, आँवली, बुड्डी, सोरियापानी सरीखे कई गाँवों की महिलाओं ने इसमें हिस्सा लिया। इनके उत्साह को इसी बात से समझा जा सकता है कि प्रशिक्षण के लिए आने–जाने का खर्च भी इन महिलाओं ने ही उठाया और दवाओं के लिए कई बार आपस में चंदा भी किया। आदिवासी इलाकों में जड़ी–बूटियों से इलाज की एक समृद्ध परम्परा भी रही है। इस प्रयोग के दौरान ऐसी जड़ी–बूटियों को भी चिन्हित कर उपयोग किया गया। इससे आदिवासियों को सस्ता इलाज मिलना शुरू हो गया। सरकार ने भी महिलाओं की गंभीरता को समझा और कुछ स्वास्थ्य साथियों की नियुक्ति आशा कार्यकर्ता के रूप में की। जिले की मुख्य चिकित्सा एवं स्वास्थ्य अधिकारी डॉ. लक्ष्मी बघेल कहती हैं कि आदिवासी इलाकों में इलाज के लिए यह अपनी तरह का एक प्रयोग है। हमने स्वास्थ्य विभाग के निर्देश पर ही इनमें से कुछ को आशा कार्यकर्ता के रूप में नियुक्ति दी है।

●●●

# नासूर का क्या हो इलाज

दयाशंकर मिश्र

सामाजिक बहिष्कार एवं भेदभाव पर काम करने के दौरान मुझे अनेक ऐसे अनुभव हुए, जो हमारे सामाजिक ताने–बाने की हकीकत और विभिन्न धर्मों में व्याप्त आपराधिक अमानवीयता को बखूबी बयाँ करते हैं।

मेरे लिए यह पहला अवसर था, जब मैं मैला ढोने वालों को इतने करीब से देख रहा था। मेरे भीतर कोई जातिगत हिचक तो नहीं थी, जो मुझे उन समुदायों के साथ बैठने या भोजन करने से रोकती पर जिस गंदगी, बजबजाहट भरे वातावरण वे रहने को विवश हैं, वहाँ पर उनके साथ भोजन और चाय–पान के प्रस्तावों को स्वीकारते हुए अंदर से मैं काँप जाता था। हालाँकि मैं इन प्रस्तावों को किसी भी कीमत पर अस्वीकार नहीं करना चाहता था, क्योंकि इससे समानता और जातिगत बुराइयों पर कही गई मेरी बातों का उल्टा असर होने का खतरा रहता था। मुझे एक से अधिक अवसरों पर इस बात का ताना सहन करना पड़ा कि मैं सवर्ण जाति का हूँ। मैं कथित तौर पर अस्पृश्य जातियों के बीच हूँ। इस बात का विरोध मुझे दलितों के साथ ही सर्वणों के बीच भी झेलना पड़ा। दलित कहते कि आपके स्पर्श से हमें ही पाप लगता है, जबकि सवर्णों का विरोध इस बात को लेकर था कि क्यों भंगियों के बीच अपने ब्राह्मणत्व की धज्जियाँ उड़ा रहे हो। सबसे अधिक आश्चर्य इस बात का है कि ऐसे लोग जो कथित तौर पर मानवतावादी रिपोर्टिंग और पत्रकारिता की बात करते हैं, उनको इस तरह की कुप्रथाओं पर अचरज नहीं होता।

केवल दो वक्त की रोटी के लिए भरी बरसात में मैले (मानव मल) की टोकरी को सर पर उठाना एक ऐसी विवशता है, जो किसी भी संवेदनशील मनुष्य को परेशान कर सकती है। लेकिन कैसा हमारा शिक्षित एवं सहिष्णु समाज और कैसे कथित तौर पर पढ़े–लिखे लोग और नकारा सरकारी तंत्र और विशेषकर अधिकारियों की जमात है, जिनकी आँखों को कुछ नहीं दिखाई देता। एक कलेक्टर ने कहा कि हम बरसात में पीतल की मटकी इनको उपलब्ध करवाएँगे, ताकि मैला ढोने में परेशानी नहीं हो, तो एक मुख्यमंत्री कहते हैं कि मैला ढोने के लिए नई गाड़ियों की व्यवस्था करेंगे। इन मासूमों को नहीं मालूम था कि मैला ढोने की प्रथा कानूनी तौर पर प्रतिबंधित है। ऐसे समाज में और कब तक मैला ढोने का काम बंद होगा कहना मुश्किल है। और हो भी गया तो वाल्मिकी एवं हैला समाज को मुख्यधारा में आने में कम से कम दो सदियों से अधिक का वक्त लगेगा।

जाति हमारे देश की सबसे बड़ी सच्चाई है। यह एक ऐसा बोध है, जिससे देश का आदमी कभी भी उबर नहीं पाता। हाल ही में मुम्बई में मेरी मुलाकात फ्रांस

से आए एक इंजीनियर से हुई और उसे यह समझाने में कि जाति क्या होती है, लम्बा वक्त लगा। अपने देश में करोड़ों पढ़े–लिखे सवर्ण–दलित दोनों हैं, लेकिन इस पूरी रिसर्च के दौरान मुझे म.प्र. में एक भी सरकारी अफसर, नेता और इस संदर्भ में पढ़ा–लिखा कहा जा सकने वाला व्यक्ति नहीं मिला जो जातिगत धारणाओं से इतर मानवीय सरोकारों की पैरवी करे।

इन समुदायों के भीतर खुद भी एक ऐसी हीनग्रंथि है, जो उनको आगे बढ़ने से रोकती है। यह संभवतः सदियों से दलितों के दमन का सामाजिक परिणाम है कि उनके भीतर सवर्णों से बेहतर हो सकने का भाव कहीं खो गया है। इसका सवर्ण भरपूर दोहन कर रहे हैं।

स्त्री–पुरुषों के बीच पूरे हिंदुस्तान में कहीं भी समानता का भाव नहीं है। मैला ढोने का काम करने को विवश समाजों में भी स्त्री चेतना, उसकी अभिव्यक्ति पर पुरुषों का ही बोलबाला है। औरत दूसरों का मैला ढोए और मर्द दूसरी औरत के चक्कर में दिन भर चिलम फूँकता घूमता रहे। उसके लिए अधिक पत्नी का मतलब है अधिक काम और आय का साधन। इसकी पुष्टि हैला समाज में बहुपत्नी प्रथा के रूप में मिलती है, चूँकि इस्लाम में एक से अधिक पत्नियों को मान्यता दी गई है, इसलिए इसके विरोध में कहीं से कोई स्वर नहीं उभरता है। इस्लाम में अस्पृश्यता की स्थिति को देखना दुःखद अनुभव है, क्योंकि मनुष्यों के बीच आपसी समानता पर सबसे अधिक बल देने वाले धर्मों में से एक यह धर्म है। मस्जिदों में हैलाओं के लिए अलग कतार होती है। ईद पर उनके साथ खुशियाँ नहीं बाँटी जाती। इसी से तंग आकर उज्जैन की हैलाबाड़ी में हैलाओं ने एक अलग मस्जिद ही बना ली है। यह मस्जिद भेदभाव की समस्या का हल तो नहीं है, क्योंकि यह समुदाय को जोड़ने की जगह उसे स्वतः ही बहिष्कृत कर देता है।

गाँवों विशेषकर कस्बों में छूआछूत में इतना ही अंतर आया है कि जो व्यक्ति किसी न किसी तरह से मुख्यधारा में शामिल हो गया है, उसे कुछ हद तक चाय की दुकान में चाय पीने का हक है और अपनी बात रखने का हक है। मायावती और कांशीराम के सत्ता में आने से दलित चेतना में खासी सुधार हुआ है। म.प्र. में बसपा का असर भले ही अभी भी कम हो लेकिन अंदर ही अंदर एक तरह की कसमसाहट तो है ही। दलितों के भीतर की सामाजिक चेतना के विस्तार से सबसे बड़ा लाभ यही हुआ कि उनको यह विश्वास हुआ कि उनके भीतर की एक दलित लड़की देश के सबसे बड़े राज्यों में से एक की मुखिया बन सकती है। दूसरा बड़ा काम जो मायावती के बार–बार सत्ता में आने से यह हुआ कि ब्राह्मण अब दलितों के साथ सामुदायिक और सार्वजनिक स्थानों पर कुछ बेहतर तरीके से पेश आते दिखते हैं।

●●●

# महिला नेतृत्व की पहली सीढ़ी

**लोकेन्द्र सिंह कोट**

वास्तव में पत्रकारिता और वह भी ग्रामीण पत्रकारिता वाले तीखे तेवर को अपनाने और फैलोशिप पाने के पीछे कहीं न कहीं अपनी प्रतिबद्धताएँ निभाने और अपने हिस्से के ऋणों से ताल्लुक रखना था। जिस गाँव की गोद में खेलकूद कर बड़े हुए और इस मुकाम तक पहुँचे हैं वहाँ से हरेक प्रश्न करता है कि मेडिकल में पढ़ाने जैसी नौकरी के बाद.....यह सब क्यों? इतना मिलता है ... कम है क्या..?तो उत्तर अक्सर वही रहता है – नहीं! हर जगह, हर बात को सिर्फ आर्थिक तराजू में नहीं तोला जाता है। मेरा जितना सामर्थ्य है, उतना पुनः मुझे लौटाना होगा... उन ऋणों को उतारना होगा...... बस यही कुछ है दिमाग में।

निदा फाज़ली के शब्दों में अभिव्यक्त करूँ, तो फैलोशिप के अनुभवों का खाक़ा कुछ इस तरह का होगा, ''समंदर को अगर समझना है तो उसकी तह में जाकर देख, वरना साहिल पर तो मछलियाँ सिर्फ कपड़े बदलती हैं।'' सही–सही कहा जाय तो शुरुआत तो फैलोशिप की इस तरह से की थी कि साहिल छुएँगे और आसमां पा लेंगे। खुद भी गाँव से जुड़े होने के कारण व्यवहारिक धरातल पर कमोबेश स्थितियाँ मेरे लिए सहज थी, लेकिन विचित्र है यह जीवन और उसके जीने का यह धंधा। स्वप्नों की ही तरह किसी कौतुकालय में रखे एक अलौकिक प्रकाश पुंज की भाँति जीवन को समझना आसान नहीं होता है। मध्यप्रदेश के लगभग बारह जिलों को घूमने के बाद इसी विरोधाभास को गहराई से महसूस किया और उसे ही उकेरने की कोशिश की।

महिलाओं के अपने संघर्ष, उनके अपने दुःख, उनके अपने विचारों, अनुभूतियों के विभिन्न रंगों और भावनाओं के अथाह सागर के आंदोलन से जन्मीं उनकी आत्मीयता, तन्मयता, करूणा, कृतज्ञता, विनम्रता आदि जैसे मनोभावों को एक रूहानी कैनवास पर चित्रण किया। वास्तविक जटिलता एक चुनौती की भाँति साथ लगी रही। जितना इनके बारे में लिखा, पता चला उतना ही कम लिखा..... ऐसा हमेशा लगता रहा। लगा कि हर एक महिला की अपनी एक कहानी है, अपना एक अध्याय है और ऐसी कई फैलोशिप के बाद भी हम कुछ के तह में जा पाएँगे।

नेतृत्व कर रही औरत या नेतृत्व नहीं कर पा रही औरत के भीतर के प्रश्नों को आप देखेंगे, तो आश्चर्यजनक रूप से आप पाएँगे कि दोनों में अति एकरूपता है। दो विरोधी प्रश्नों के प्रत्युत्तरों में कैसे एकरूपता हो सकती है....? आपका अगला

ही प्रश्न होगा...! जनाब, जिस फुर्ती से आपने प्रश्न किया, क्या आपने सोचा f दोनों में अंतर देखने के लिए आप कितने तत्पर रहते हैं। हमारी इसी सोच ने पह तो पंचायतों में महिला आरक्षण को बहुत ही हल्के ढंग से लिया था और ज चलते–चलते तेरह साल बीत गए तो फिर...। जब एक महिला नेतृत्व की सी चढ़ती है, तो वही उसकी सबसे बड़ी सफलता होती है। हम तुलना करने बैठ जा हैं कि ऐसा नहीं और वैसा हो गया.... लेकिन यह भूल जाते हैं और यहाँ पर ए महिला में हम पुरुष ढूँढ़ते हैं और फिर शुरू कर देते हैं कमियाँ या अच्छाइ बताने में।

फैलोशिप के दौरान लिखना भी सिर्फ इसलिए नहीं था कि 'टारगेट' पू करना है। जो भी लिखा उसका अपना स्तर था। कोई भी लेखन की पहचान औ महत्व उसकी गुणवत्ता से जाहिर होता है। विषय के प्रति समर्पण, गंभीरता औ लगाव यह तीनों बातें यदि व्यवहार में हो, तो आपको गुणवत्ता के लिए अलग कोई प्रयास करने की आवश्यकता ही नहीं है। हाँ, प्रकाशन की अपनी सीमाएँ और वे सब जगजाहिर हैं। हमारा तो 'चैलेंज' ही यह है कि विकट परिस्थितियों कैसे अपने विषय को स्थापित करें। चुनौतियाँ आज से नहीं, बहुत पहले से ह आकृष्ट करती रही हैं। वास्तव में देखा जाय तो मेरे दृष्टिकोण से यही चुनौतियाँ जो हमें सिखाती हैं कि कैसे निपटा जाये सीमाओं से।

सामाजिक पक्षों का अपना एक इतर व्यवहार होता है जो आपको अभिजात्य बनकर प्राप्त नहीं हो सकता है, उसके लिए स्वयं को सजात्य बनना होता है औ फिर हमें मिलने लगते हैं वे प्रत्युत्तर भी, जो कभी नहीं मिल सकते थे। आरंभ मे लगता है कि यहाँ से कुछ भी निकालना मुश्किल है, लेकिन लगन के चलते वहीं से सर्वाधिक सफलता मिलती है।

●●●

# 9 पत्रकारों के बारे में

## रूमनी घोष – (खाद्य सुरक्षा एवं गरीबी, वर्ष 2004)

रूमनी ने दैनिक भास्कर, इंदौर में काम कर रही हैं और खाद्य सुरक्षा को उत्पादन, वितरण और राजनीति का मुद्दा मानती हैं। विकास संवाद फैलोशिप के दौरान उन्होंने बड़े जतन के साथ भारत में सुनामी की आपदा को अंडमान निकोबार से और भुखमरी के सच को झारखण्ड के पलामू जिले में जाकर देखा और लिखा। वह वह छपा भी और पढ़ा भी गया। विकास संवाद के तहत खाद्य सुरक्षा एवं गरीबी के मुद्दे पर दैनिक भास्कर, इंदौर की पत्रकार सुश्री रूमनी घोष ने इस मुद्दे पर 60 खोजपरक और परिस्थिति का चित्रण करने वाली खबरों का लेखन किया।

## नीति दीवान – (महिला नेतृत्व एवं स्वशासन, वर्ष 2004)

नीति स्वतंत्र रूप से लेखन करने के साथ-साथ जन संघर्षों के साथ प्रत्यक्ष रूप से जुड़ी हुई हैं। पंचायत में महिलाओं के राजनैतिक नेतृत्व के विषय पर वे समय-समय पर शोध कार्य भी करती रही हैं। पूर्व में उनके कई आलेख जनसत्ता, देशबंधु, नई दुनिया, पायोनियर और ग्रासरूट में छपते रहे हैं। वे केवल मुद्दों को स्पर्श करके आगे नहीं बढ़ती है बल्कि परिभाषाओं और विचार के साथ-साथ राजनैतिक सवालों की परतों को उधेड़ती है। यही कारण है कि उनके आलेख विस्तार लिये होते हैं। वहीं विस्तार जो आज की पत्रकारिता में विलुप्त हो चुका है। आज भी वे स्वतंत्र लेखन और शोध कार्यों से जुड़ी हैं।

## भारत शर्मा – (सामाजिक सद्भाव, वर्ष 2004)

भारत उन पत्रकारों में से हैं, जो सामाजिक सद्भाव के विषय को ही नहीं, बल्कि विकास के मुद्दे को ही ऐतिहासिक और राजनैतिक परिप्रेक्ष्य में देखने की कोशिश करते हैं। वे मानते हैं कि जो धरती के ऊपर नजर आता है, उस पेड़ की जड़ें उतनी ही गहरी जमीन में भी होती हैं। ऐसे में विकास संवाद फैलोशिप के दौरान जातिगत ताने-बाने के साथ-साथ उन्होंने ग्वालियर- चंबल अंचल में डकैत समस्या और साम्प्रदायिकता के वातावरण को खंगालने का भी काम किया है। वर्तमान में वे देशबंधु, भोपाल से जुड़े हुए हैं।

## राजु कुमार – (स्वशासन, वर्ष 2004)

राजु की पत्रकारिता का रूख ही विकास और सामाजिक सरोकार का रहा है। देशबंधु में लंबे समय तक सामाजिक एवं विकास के मुद्दे पर प्रतिदिन खबरों एवं आलेखों के लेखन के

साथ-साथ संपादन भी किया। फैलोशिप मिलने के बाद स्व-शासन के साथ जोड़कर विभिन्न विषयों पर लिखे गए इनके कई आलेखों एवं समाचारों का प्रकाशन विभिन्न अखबारों में हुआ। किसी भी विषय में सामाजिक सरोकारों को ढूँढ़ लेने के साथ-साथ राजनैतिक एवं आर्थिक लेखों में उसका बखूबी इस्तेमाल भी कर लेते हैं।

## जयंत सिंह तोमर – (स्वशासन, वर्ष 2004)

जयंत को जब फैलोशिप मिली, तब वे दैनिक जागरण, ग्वालियर में कार्यरत थे। मुद्दा आधारित लेखन में उनकी गहरी रुचि रही है। विकास संवाद फैलोशिप मिलने के पहले भी उन्होंने चंबल क्षेत्र की विभिन्न विकास योजनाओं पर अपनी कलम चलाई है। पत्रकारिता में लीक से हटकर जनोन्मुखी विचार रखने वाले जयंत वर्तमान में जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर में पत्रकारिता विभाग में अध्यापन कर रहे हैं।

## धनंजय प्रताप सिंह – (खाद्य सुरक्षा एवं गरीबी, वर्ष 2006)

मध्यप्रदेश में पिछले 15 वर्षों से पत्रकारिता में सक्रिय धनंजय मुख्यतः प्रशासनिक और कानून-व्यवस्था के विषयों पर काम करते रहे है, पर अपने को कभी सामाजिक विकास के मुद्दों से अलग करके नहीं रखा। विकास संवाद फैलोशिप के अंतर्गत उन्होंने आदिवासियों की खाद्य सुरक्षा और गरीबी के विषय पर सघनता से कार्य किया। नई दुनिया, दैनिक जागरण, देशबंधु, भास्कर टेलीविजन, आई विजन चैनल में काम करने के बाद वे अभी राजस्थान पत्रिका समूह के अखबार डेली न्यूज से संबद्ध हैं।

## वीणा सबलोक पाठक – (महिला नेतृत्व एवं स्वशासन, 2006)

पत्रकारिता के क्षेत्र में अलग-अलग मौकों पर अलग-अलग रूपों में वीणा लगभग 14 सालों से कार्य कर रही हैं। लगभग तीन वर्ष दैनिक भास्कर में काम करने के बाद से वे भोपाल दूरदर्शन के समाचार प्रभाग से जुड़ी हुई हैं। इतनी ही अवधि से वे लगातार अलग-अलग समाचार पत्रों के लिये स्वतंत्र लेखन भी करती रही हैं। उल्लेखनीय है कि वीणा ने समय-समय पर विधानसभा सत्रों की कार्यवाहियों की समीक्षायें भी की हैं। वे महिला मुद्दों पर खास रुचि रखती हैं। वीणा वर्तमान में दूरदर्शन (भोपाल) से जुड़ी हुई हैं।

## ज़ाकिर अली – (सामाजिक भेदभाव, वर्ष 2006)

स्टूडेन्ट्स फेडरेशन ऑफ इण्डिया के प्रदेश अध्यक्ष और राष्ट्रीय सचिव के रूप में जाकिर ने सक्रिय छात्र राजनीति भी की, पर अब 12 वर्षों से सक्रिय पत्रकारिता का भी उन्हें अनुभव है। इस दौरान उन्होंने यह अनुभव किया है कि साम्प्रदायिकता के मुद्दे पर खुली बात रखने

की स्वतंत्रता अब मुख्यधारा की पत्रकारिता में नहीं है। जब उन्होंने अपने विषय के अंतर्गत साम्प्रदायिकता के विषय पर लेखन किया, तो वह लेखन उनके निजी पन्ने बन कर रह गये। मित्र होने के नाते पत्रकार साथियों ने उनसे क्षमा भी माँगी। वर्तमान में ज़ाकिर समाचार एजेंसी 'एक्सप्रेस मीडिया सर्विस' में कार्यरत हैं।

### रानी शर्मा – (महिला स्वास्थ्य, वर्ष 2006)

रानी शर्मा ने क्षेत्रीय एवं आँचलिक स्तरों से लेकर राजधानी स्तर तक दमदार तरीके से काम किया है। इस यात्रा में उन्होंने देशबंधु, शिखर वार्ता, साँझ मध्य भारत, राज्य की नई दुनिया की यात्रा की। उनकी पहचान केवल इसलिये ही नहीं है कि वे स्वास्थ्य के मुद्दे पर लगातार रिपोर्टिंग करने वाली पत्रकार हैं, बल्कि वे उन मुद्दों के स्थान के लिये भी संघर्ष करती हैं। विकास संवाद फैलोशिप के अंतर्गत उन्होंने महिला स्वास्थ्य के जमीनी मुद्दों को एक खास नजरिये से उठाया। इतना ही नहीं, समाचार लेखन करने के साथ ही उन्होंने अपने फैलोशिप के अनुभवों को जिस तरह प्रस्तुत किया, वह भी उल्लेखनीय दस्तावेज बना। वर्तमान में वे दैनिक भास्कर, भोपाल में कार्यरत हैं।

### लोकेन्द्र सिंह कोट – (महिला नेतृत्व एवं स्वशासन, वर्ष 2007)

महिला नेतृत्व के मुद्दे पर लगातार लेखन करने वाले गिने-चुने व्यक्तियों में से लोकेन्द्र सिंह कोट एक हैं। वे लगातार ग्रामीण समाज के विषयों पर शोध कार्य करते रहे हैं। विकास संवाद फैलोशिप के दौरान लोकेन्द्र ने वंचित वर्गों की महिला ताकतों का श्रृंखलाबद्ध विवेचन किया। इस दौरान राज्य के बुंदेलखण्ड के इलाके पर उन्होंने अपना ज्यादा ध्यान केन्द्रित किया। वे हिन्दी और अँग्रेजी दोनों ही भाषाओं में अपना लेखन कार्य करते रहे हैं। आजीविका के लिए मेडिकल कॉलेज में अध्यापन करते हुए, वर्तमान में वे स्वतंत्र लेखन कार्य कर रहे हैं।

### दयाशंकर मिश्र – (सामाजिक बहिष्कार एवं भेदभाव, वर्ष 2007)

समाजिक समानता और न्याय के प्रति आस्था रखने वाले युवा पत्रकार दयाशंकर मिश्र ने सामाजिक बहिष्कार एवं भेदभाव के मुद्दे पर विकास संवाद फैलोशिप पर काम करते हुए मानव मल ढोने के पारम्परिक पेशे से जुड़ी हैला जाति पर गुणात्मक अध्ययन पत्र भी तैयार किया है, जो पत्रकार की सोच में एक नजरिये की मौजूदगी का प्रमाण देता है। अपने छह वर्ष के पेशेवर जीवन में दयाशंकर ने दैनिक भास्कर, राज्य की नई दुनिया, अमर उजाला (जम्मू) और राज एक्सप्रेस के साथ काम किया है। वर्तमान में वे दैनिक भास्कर, भोपाल में कार्यरत हैं।

## राकेश मालवीय – (महिला एवं बाल अधिकार और स्वास्थ्य, वर्ष 2007)

राकेश उस नर्सरी से निकले हैं, जो सामाजिक विकास के लिए वैकल्पिक मीडिया पर जोर देता है यानी होशंगाबाद की स्वयंसेवी संस्था 'ग्राम सेवा समिति'। उसकी छाप लिए हुए राकेश ने विकास संवाद फैलोशिप के अंतर्गत महिला-बाल अधिकार एवं स्वास्थ्य के विषय पर काम किया। इस दौरान उनका ध्यान विस्थापन के कारण उत्पन्न होने वाली अस्वस्थकर परिस्थितियों पर केन्द्रित था और इंदिरा सागर बाँध के कारण अस्तित्वहीन हुये हरसूद शहर के नये रूप "नया हरसूद-छनेरा" की बहुत सी कहानियाँ अध्ययन में दर्ज की। राकेश दैनिक भास्कर, भोपाल में कार्य कर रहे हैं।

## अमिताभ पाण्डेय – (शिक्षा, वर्ष 2007)

ठेठ मुख्यधारा की पत्रकारिता में विभिन्न बीट का अनुभव रखने वाले अमिताभ ने विकास संवाद फैलोशिप के अंतर्गत पहली बार केन्द्रित रूप में विकास के किसी एक पहलू पर पत्रकारिता की और उनका अब यह मानना है कि राजधानी के पत्रकारों को अनिवार्यतः कुछ दिनों के लिए गाँवों की रिपोर्टिंग के लिए भेजा जाना चाहिए। अमिताभ पेशेवर रूप से 17 वर्षों तक प्रदेश के लगभग सभी मुख्य अखबारों में काम कर चुके हैं। फैलोशिप के दौरान उन्होंने अदिवासी एवं असंगठित श्रमिकों के बच्चों की शिक्षा के अधिकार की ढाँचागत स्थिति को चित्रित करने की कोशिश की। वे अभी स्वतंत्र पत्रकार के रूप में कार्य कर रहे हैं।

## सचिन कुमार जैन – (समन्वयक, विकास संवाद)

पिछले 13 वर्षों से विकास, जन मुद्दों एवं संचार के परस्पर सम्बंधों पर काम कर रहे हैं। अब तक विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में खाद्य सुरक्षा, गरीबी, पानी, संचार और आदिवासी समुदाय से जुड़े विषयों पर लगभग 700 आलेख प्रकाशित और विकास के विभिन्न मुद्दों पर 16 पुस्तकें प्रकाशित। विकास के मुद्दों को समाज एवं राजनीति में केंद्रीय बहस का विषय बनाने के लिए प्रयासरत सचिन की खासियत है कि वे अपने द्वारा उठाए गए मुद्दों को अंजाम तक पहुँचाने की कोशिश करते हैं। वर्तमान में वे विकास संवाद का समन्वय करते हुए भोजन का अधिकार अभियान के साथ काम कर रहे हैं।

●●●

# 10 चयन समिति

**श्री नरेन्द्र कुमार सिंह** (2004–2005, 2005–2006)

श्री सिंह 2004 में दैनिक भास्कर, भोपाल के संपादक थे, फिर वे जयपुर में दैनिक भास्कर के स्थानीय संपादक हुए। इसके बाद वे इंडियन एक्सप्रेस, अहमदाबाद के संपादक के रूप में कार्य करने बाद अब हिन्दुस्तान टाइम्स, भोपाल में संपादक हैं।

**श्री योगेन्द्र यादव** (2004–2005)

श्री यादव लम्बे समय से लोकनीति, दिल्ली के निदेशक हैं। सामाजिक–राजनीतिक विश्लेषक के रूप में विख्यात श्री यादव वर्तमान में सामायिक वार्ता के संपादन का दायित्व भी निभा रहे हैं।

**श्री गिरीश मिश्र** (2004–2005, 2005–2006, 2007–2008)

श्री मिश्र नवभारत, भोपाल के संपादक के रूप में कार्य करने बाद दैनिक भास्कर, भोपाल में संपादक हुए और पुनः नवभारत में समूह संपादक बने। इसके बाद उन्होंने लोकमत समाचार, नागपुर में समूह संपादक का पद संभाला।

**श्री रमेश शर्मा** (2004–2005, 2005–2006, 2007–2008)

श्री शर्मा लम्बे समय से राष्ट्रीय सहारा में मध्यप्रदेश के लिए ब्यूरो चीफ के पद पर कार्यरत हैं।

**श्री पुष्पेन्द्रपाल सिंह** (2004–2005, 2005–2006, 2007–2008)

श्री पुष्पेंद्रपाल सिंह माखनलाल चतुर्वेदी राष्ट्रीय पत्रकारिता एवं संचार विश्वविद्यालय, भोपाल में पत्रकारिता विभाग के विभागाध्यक्ष के पद पर पदस्थ हैं। वे मीडिया एवं सामाजिक मुद्दों पर विभिन्न पत्र–पत्रिकाओं में लेखन भी कर रहे हैं।

**सुश्री मालिनी सुब्रह्मण्यम्** (2004–2005, 2005–2006, 2007–2008)

सुश्री मालिनी एक्शनएड इंडिया, भोपाल में क्षेत्रीय प्रबंधक के दायित्वों के निर्वहन के बाद एक्शनएड इंडिया, बंगलौर में कार्यरत हैं।

**श्री एल.एन. शीतल** (2005–2006)

नवभारत, भोपाल में संपादक के रूप में काम करने बाद श्री शीतल ने अपनी
अमर उजाला, देहरादून में संपादक के रूप में दी। अब वे राज एक्सप्रेस, भोप
संपादक के पद पर कार्यरत हैं।

**सुश्री अन्नू आनंद** (2005–2006, 2007–2008)

सुश्री आनंद ग्रासरूट, दिल्ली में कार्यकारी संपादक हैं। वे विदुर पत्रिका क
कार्यकारी संपादक के दायित्वों का निर्वहन कर रही हैं।

**श्री अरविन्द मोहन** (2005–2006, 2007–2008)

श्री अरविन्द मोहन लम्बे समय तक दैनिक हिन्दुतान, दिल्ली में विकास संपाद
पद पर अपनी सेवाएँ देने के बाद फिलहाल सी.एस.डी.एस. में सीनियर फैलो के
में कार्यरत हैं।

**श्री अभिलाष खाण्डेकर** (2007–2008)

श्री खाण्डेकर दैनिक भास्कर, भोपाल में संपादक पद पर रहने के बाद फिल
दैनिक भास्कर में ही संपादक (मध्यप्रदेश) के पद पर कार्यरत हैं।

**श्री संदीप नाईक** (2007–2008)

श्री नाईक द हंगर प्रोजेक्ट, मध्यप्रदेश में राज्य समन्वयक के पद पर 200
कार्यरत हैं। लम्बे समय से साहित्यिक एवं समसामयिक विषयों पर लेखन में स
हैं।

●●●

# तुम्हारा नहीं होते जाना

बेहद दर्दनाक है अब यह मान लेना
कि स्याही के प्रवाह पर बन गये हैं
नफे-नुकसान के बांध,
सड़ गई है वह नदी
जो सींचा करती थी
आशाओं को,
पर तुम चुप हो
बस बहाने बनाकर,
तुमने भी छाप दिये हैं
विकास के सरकारी बयान,
साथी, विज्ञप्ति से परे हटकर
कभी यूं ही चले आते
हमारी जड़ों की गहराई में झांकनें,

यही पूछने चले आते
कि मेरे आंगन की तुलसी,
मिट्टी की महक
आम के झुरमुटों से झांकती धूप
और ख़्वाजा की दरगाह का
क्या मोल लगा विकास के नाम पर,
तुमने यह भी नही पूछा
कि कहां डूब गई गांधी की मूर्ति,
और विस्थापित हो गये हैं हम
अपनी उम्मीदों के गांव से,
सत्ता ने तय कर दिया है मुआवजा
मिला एक झूठ जिन्दगी के एवज में,
पर तुमने कभी नही पूछा
मेरा कोई सवाल,
तुम्हारा चुप रह जाना है
संभावनाओं का खत्म हो जाना,
पर संघर्ष जारी रहेगा
अब तुम्हारे खिलाफ भी